श्रीमदमृतचन्द्राचार्य-विरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

(जिनप्रवचन रहस्य कोश)

व्याख्याकार

क्षुल्लक धर्मानन्द

प्रकाशक

श्री सुरेश सी. जैन

(E.I.C House),

B-1/30-A, हौज खास,

नई देहली-110016

प्रथमावृत्ति : अक्तूबर १९८९
RELIGION 1989

श्रीमदमृतचन्द्राचार्य-विरचित
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (जिनप्रवचन रहस्य कोश)

प्रेरणा · श्री माणिकचन्द्र जे० चवरे (कारजा)
मुखपृष्ठ सज्जा
सौ० संगीता एस० जैन
हौज खास, नई देहली-११००१६

मूल्य : स्वाध्याय, चिन्तन, मनन

प्रकाशक एव प्राप्ति स्थान :
श्री सुरेश सी० जैन
(E. I. C House)
बी—1/30 A, हौज खास,
नई देहली-110016

मुद्रक · श्री मुरलीधर (PAMS Print)
9014, देशबन्धु गुप्ता रोड, पहाडगंज,
नई देहली-110055

॥ ॐ ॥

अपनी बात

'संसारव्यसनाहतिप्रचलिता नित्योदयप्रार्थिनः,
प्रत्यासन्नविमुक्तयः सुमतयः शान्तैनसः प्राणिनः।
मोक्षस्यैव कृतं विशालमतुलं सोपानमुच्चैस्तराम्,
आरोहन्ति चरित्रमुत्तममिदं जैनेन्द्रमोजस्विनः ॥'

—जो भव्य जीव संसार के दुःखों के धक्कों से भयभीत हो गये हैं, जो सदाकाल रहने वाली मोक्षलक्ष्मी के प्राप्त होने की प्रार्थना करते हैं, जो आसन्न-भव्य हैं, मोक्षलक्ष्मी जिनके समीप तक आ पहुँची है, जिनकी बुद्धि उत्तम है, जिनके पाप कर्मों का उदय शान्त हो गया है, जो बड़े तेजस्वी हैं—ऐसे जीव जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा निरूपण किये हुए, जिसकी संसार में कोई उपमा नहीं, जो अत्यन्त विशाल है, अत्यन्त ऊँचा है—ऐसे मोक्ष के लिए बनाए हुए जीने के समान, उस उत्तम चारित्र को धारण करते हैं।

'अज्ञानान्धकारविध्वंसिन्! सज्ज्ञानाचारवर्द्धक!
गुरुवर्य! नमस्तुभ्यं शुद्धस्वरूपकारक!'

—हम अपने दीक्षा-गुरु परमपूज्य आचार्य श्री विद्यानन्द जी मुनिराज के चरण-कमलों में योगों की शुद्धिपूर्वक श्रद्धा-भक्ति से त्रिकाल त्रिवार नमोऽस्तु करते हुए उनका स्मरण करते हैं तथा उनके प्रति सविनय आभार प्रकट करते हैं। वे सदा हमारा मार्गदर्शन करें।

'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' चरणानुयोग का ग्रन्थ है। इसे 'जिनप्रवचन रहस्य कोश' भी कहते हैं। यह आत्मविद्या के मर्मज्ञ आचार्यश्री

अमृतचन्द्र की स्वतन्त्र कृति है। इस ग्रन्थ मे आध्यात्मिक दृष्टि को प्रधानता से पुरुषार्थसिद्धि—'पुरुष' (आत्मा) के 'अर्थ' (प्रयोजन) की सिद्धि अर्थात् निजशुद्धात्म-स्वरूप की प्राप्ति अथवा सिद्धत्वरूप अपने आत्मस्वभाव की प्राप्ति के उपायो का वर्णन किया गया है। आचार्यश्री ने सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मदर्शन प्राप्त करने का निर्देश दिया है। मुनिजनो और श्रावको को प्रेरणा दी गई है कि वे अध्यात्मदृष्टि से आत्मकल्याण की भावना मात्र से अहिंसादि व्रत, समिति, गुप्ति इत्यादि तथा बाह्याभ्यन्तर वीतराग तप को धारण करे, वही सम्यक्चारित्र है।

सम्यक्चारित्र अधिकार मे अहिंसा की विस्तारपूर्वक तथा निश्चय व्यवहार परक व्याख्या बहुत ही विशद, सूक्ष्म तथा महत्त्वपूर्ण है। अहिंसा/हिंसा का तर्क और आगम-सम्मत—ऐसा तलस्पर्शी उपदेश अन्यत्र ग्रन्थो मे नही पाया जाता। अहिंसा को ही सर्वव्यापक धर्म के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है। आचार्यश्री कहते हैं कि असत्य, चौर्य, अब्रह्म तथा परिग्रह—ये चारो पाप हिंसा से ओतप्रोत होने के कारण हिंसा के ही प्रकारान्तर हैं। मूल मे हिंसा ही अधर्म है और अहिंसा ही एकमात्र धर्म है। कषायभाव के कारण ही जीव हिंसक होता है और निष्कषायभाव से ही अहिंसक होता है। निश्चय से रागादि भावो का उत्पन्न न होना ही 'अहिंसा' है और रागादि भावो की उत्पत्ति ही 'हिंसा' है। हिंस्य, हिंसक, हिंसा तथा हिंसा का फल—इन चारों बातो को जाने बिना हिंसा का त्याग सभव नही।

आत्मा का शुद्धस्वरूप और उसके बध मे पडने का कारण भी दिया गया है जो कि अन्यत्र किसी श्रावकाचार मे नही पाया जाता। इसी प्रकार निश्चय और व्यवहार की तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों की चर्चा भी अन्यत्र श्रावकाचारो मे नही है। निश्चयनय और व्यवहारनय की मैत्रीपूर्ण सधि द्वारा ही पुरुषार्थ की सिद्धि सभव है। आचार्यश्री ने व्यवहाराभासियो और निश्चयाभासियो को उनकी अज्ञानता और एकान्ताग्रह के लिये कडी लताड पिलाई है।

इस ग्रन्थ के २२६ श्लोकों को हमने सात अधिकारो मे बाँटा है—(१) उत्थानिका अधिकार, (२) श्रावकधर्म अधिकार, (३) सम्यग्ज्ञान अधिकार, (४) सम्यक्चारित्र अधिकार, (५) सल्लेखना अधिकार, (६) अतिचार अधिकार तथा (७) सकलचारित्र अधिकार।

पहले उत्थानिका अधिकार मे उन्नीस श्लोक हैं। इनमे वक्ता-श्रोता का लक्षण, पुरुष का स्वरूप, उसकी अशुद्धता के कारण और पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है। दूसरे श्रावकधर्म अधिकार मे ग्यारह श्लोक हैं, जिनमे सम्यक्त्व का लक्षण तथा उसके आठ अंगो का वर्णन है। तीसरे सम्यग्ज्ञान अधिकार मे छह श्लोक हैं जिनमे सम्यग्ज्ञान का लक्षण तथा उसके आठ अंगो का वर्णन है। चौथे सम्यक्चारित्र अधिकार मे एक सौ अड़तालीस श्लोक हैं जिनमे सम्यक्चारित्र का लक्षण इत्यादि, हिंसा/अहिंसा का स्वरूप, अष्टमूलगुण, सत्य/असत्य, चौर्य, कुशील और परिग्रह का स्वरूप, रात्रि भोजन त्याग, सात शील-व्रत तथा नवधा भक्तिपूर्वक आहारदान इत्यादि का वर्णन है। पाँचवें सल्लेखना अधिकार मे छह श्लोक हैं जिनमे सल्लेखना ग्रहण करने का क्रम तथा विधि इत्यादि का वर्णन है। छठे अतिचार अधिकार मे सोलह श्लोक हैं जिनमे चौदह व्रतो के अतिचार तथा अतिचार त्याग का फल है। सातवाँ सकलचारित्र अधिकार है। इसके तीस श्लोको मे तप और उसके भेद, मुनिव्रत धारण करने का उपदेश, छह आवश्यक, तीन गुप्ति, दसधर्म, बारह भावना, बाईस परीषह इत्यादि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त रत्नत्रय तथा राग का फल, निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय का स्वरूप, परमात्मा का स्वरूप तथा जैननय की विवक्षा है।

इस बहुमूल्य और उपयोगी लघुग्रन्थ के कर्ता आचार्यश्री अमृतचन्द्र हैं। उनका जन्म कब और कहाँ हुआ—इसकी पर्याप्त जानकारी प्राप्त नही हो सकी। फिर भी विद्वानो ने उनको दसवी शताब्दी के महान, विशुद्ध अध्यात्म-विचारक आचार्य के रूप मे माना है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने उन्हे 'कलिकाल गणधर' पद से विभूषित किया है। अध्यात्म साहित्य के महान् प्रणेता के रूप मे उनका नाम बड़े गौरव से लिया जाता है। कहा जाता है कि यदि उन्होने आचार्यश्री कुन्दकुन्द देव के अध्यात्म ग्रन्थों का इतनी गहराई और सूक्ष्मता से

रहस्योद्‌घाटन न किया होता तो शायद हम अध्यात्म को समझने में सर्वथा असमर्थ रहते अथवा अर्थ का अनर्थ कर सकते थे। उनके लिखे हुए छह ग्रन्थ वर्तमान मे उपलब्ध हैं—(१) समयसार की आत्मख्याति टीका तथा कलश, (२) प्रवचनसार की टीका, (३) पचास्तिकाय सग्रह की टीका, (४) तत्त्वार्थसार, (५) लघुतत्त्व स्फोट, तथा (६) पुरुषार्थसिद्‌ध्युपाय।

अभी तक हम 'तत्त्वार्थसूत्र', 'विधि सामायिक की' तथा 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' स्वाध्याय प्रेमी मुमुक्षु जीवो को भेंट कर चुके हैं। हमे सन्तोष है कि वे काफी लोकप्रिय सिद्ध हुए। उनकी सफलता से प्रोत्साहित होकर तथा ब० श्री माणिकचन्द जयकुमार चवरे से प्रेरणा पाकर हमने 'पुरुषार्थसिद्‌ध्युपाय' ग्रन्थ का सरलीकरण करने का साहस किया है। हमने सदा यही प्रयास किया है कि आचार्यों के अभिप्राय को सामान्य बोल-चाल की भाषा मे गृहस्थो के सामने प्रस्तुत करे, जिससे कि वे आसानी से विषय को समझ सके। हमारी हिन्दी चलती हिन्दी है। विद्वानो के द्वारा बोली और लिखी जाने वाली हिन्दी नही है। हिन्दी 'प्राकृत' भाषा है। प्राकृत का अर्थ है प्रकृति अथवा स्वाभाविकता से युक्त —ऐसी स्वाभाविक भाषा जो साधारण जनता के द्वारा आसानी से समझी और बोली जा सके। आजकल पडितो/विद्वानो मे जो गूढ हिन्दी चल रही है, वह साधारण लोगो मे किसी को समझ नही आती। दुर्भाग्य से आज धम ग्रन्थो के स्वाध्याय मे लोगो की रुचि है ही नहीं। जो थोड़े भव्य जीवो को रुचि है, वे भाषा की गूढ़ता के कारण विषय को समझ नही पाते, इसलिए उन्हे भी रुचि नही रहती। इन सब बातों को ध्यान मे रखकर तथा अपने अनुभव के आधार से हमने प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय अति सरल करने की पूरी कोशिश की है। इसमें मूल श्लोक, अन्वयार्थ, अर्थ तथा उसका विशेष स्पष्टीकरण विशेषार्थ के रूप मे किया है। स्व० पडितप्रवर टोडरमल जी ने इस ग्रन्थ का ढुंढारी भाषा मे खण्डान्वय रूप अनुवाद किया है। हमने उसी का अनुसरण करने का पूरा प्रयास किया है।

यह तीन लोक जीवों से ठसाठस भरा हुआ है, सर्वत्र जीव ही जीव हैं। वे सभी सुख चाहते हैं और दु:खो से भयभीत हैं, परन्तु सुख की

प्राप्ति तो दुर्लभ है। बाह्य पदार्थों मे और इन्द्रियो के विषयो मे सुख कहाँ से मिले। निराकुल और अविनाशी सुख तो मोक्ष मे ही प्राप्त हो सकता है। मनुष्य को परमात्मरूप हुए बिना सुख-चैन नहीं मिल सकता। परमात्मरूप होने के प्रयत्न का सच्चा नाम एकमात्र 'पुरुषार्थ' है, यही आत्मा की सिद्धि और दर्शन है। केवल वाचनमात्र ही पर्याप्त नही, हमे सत्य क्रिया भी करनी होगी। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र को प्राप्ति ही मनुष्य-जीवन का सार है। हमे पूर्ण आशा है तथा हम शुभ कामना करते हैं कि आत्मकल्याण के इच्छुक जीव इस छोटे से ग्रन्थ के स्वाध्याय, चिन्तन-मनन से अपने 'पुरुषार्थ' को समीचीन दिशा देकर रत्नत्रय की ओर बढेगे।

धर्मानुरागी श्री माणिकचन्द्र जे० चवरे (श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारजा) ने अपना बहुमूल्य समय देकर इस ग्रन्थ का मार्मिक 'पुरोवाक्' लिखा है। वे एक बहुत अच्छे विद्वान् हैं। उन्होने आचार्य कुन्दकुन्द देव तथा आचार्यश्री अमृतचन्द्र के अध्यात्मिक साहित्य का बहुत ही गूढ अध्ययन किया है और उनके अभिप्राय को अच्छी तरह समझा है। इसके अलावा अन्य ग्रन्थो का भी गहन अध्ययन किया है। कुम्भोज बाहुबली मे पहली बार उनसे संपर्क हुआ था। उनके सान्निध्य मे ई० १९८३ मे तथा पुन १९८४ मे स्वाध्याय करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। हमने बहुत कुछ सीखा तथा समीचीन दृष्टि पाई।

धर्मानुरागी डा० दामोदर शास्त्री (ला० बा० संस्कृत विद्यापीठ, नई देहली) भी एक बहुत ही अनुभवी और सिद्धहस्त विद्वान् हैं। उनका जीवन बहुत व्यस्त है। उन्होने अपना बहुमूल्य समय देकर इस ग्रन्थ की सम्पूर्ण प्रूफरीडिंग मे पूर्ण सहयोग दिया।

चारो प्रकार के दान मे ज्ञान अर्थात् शास्त्रदान/विद्यादान का अपना ही विशेष महत्त्व है। शास्त्रो मे कहा है कि ज्ञानदान देने से ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है तथा श्रुतकेवली/केवली पद की प्राप्ति होती है। धर्मानुरागी श्री सुरेश सी० जैन (E. I C House, Hauzkhas, New Delhi) एक भद्रपरिणामी, सरल स्वभावी तथा धर्मपरायण जीव हैं। चारो प्रकार के दान मे सदा तत्पर रहते हैं। इस

ग्रन्थ के छपवाने मे उन्होने बहुभाग योगदान देकर अपने धन का सदुपयोग किया है। इससे पहले भी वे तत्त्वार्थसूत्र के प्रकाशन मे भारी योगदान दे चुके हैं।

धर्मानुरागी श्री ओमप्रकाश जैन (मे० ओमप्रकाश जितेन्द्र कुमार एण्ड कम्पनी) एक बहुत ही सज्जन पुरुष हैं। समाज सेवा तथा धर्म के प्रचार-प्रसार मे सदैव आगे रहते हैं। उन्होने भी इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे अपना योगदान दिया है। श्री मुरलीधर (PAMS Print) ने इस ग्रन्थ की छपाई मे पूर्ण सहयोग दिया है। हम उनकी शराफत के कायल हैं।

हम उपर्युक्त सभी महानुभावो के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं तथा अनेक मगलमयी शुभकामनाए व्यक्त करते हैं। उनकी बुद्धि धर्म मे बनी रहे, वे सदा ही धर्म कार्यों मे योगदान देते रहे, यही हमारा सबको शुभाशीर्वाद है।

नई देहली
अक्तूबर २६, १६८६
दीपावली।

क्षुल्लक धर्मानन्द

पुरोवाक्

आचार्यश्री अमृतचन्द्र और उनका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

स्वनामधन्य आचार्यप्रवर श्रीमत् श्री अमृतचन्द्र का यह "पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय" अपरनाम "जिनप्रवचन रहस्यकोश" चरणानुयोग का सर्वाङ्गपरिपूर्ण अद्भुत ग्रन्थरत्न है। आचार्यश्री का आचार्य-परपरा मे अपनी प्रतिभासम्पन्न समीचीन भावगर्भा सस्कृत गद्य-पद्य रचना के कारण सव्यसाची अधिकारसम्पन्न भाषाप्रभु रूप मे अपना वैशिष्ट्य-पूर्ण स्थान है। आपकी उपलब्ध ग्रन्थसम्पत्ति अर्थगरिमा से अपनी विशेषता को लिए हुए निम्न रूप मे हैं—

आचार्यप्रवर भगवान् कुन्दकुन्ददेव के (१) समयप्राभृत पर 'आत्म-ख्याति', (२) प्रवचनसार के ऊपर 'तत्त्वदीपिका' तथा (३) पंचास्ति-काय की 'समयव्याख्या'—ये प्राभृतत्रयी के तीनो भाष्य समस्त सस्कृत साहित्य के गद्य ग्रन्थो मे सारगर्भित सरस अद्वितीय भाष्य हैं। साथ ही साथ 'आत्मख्याति' भाष्य के सारस्वरूप २७८ कलशों की रचना भी है, जो गागर मे सागर की कहावत को सिद्ध करती है।

(१) 'समयप्राभृत' के भाष्य मे पद्य तो काव्यमय हैं ही, परन्तु सपूर्ण गद्य भी काव्यगुण-गरिमा से महाकाव्य हो गया है। 'आत्म-ख्याति' मे आचार्यश्री का भाष्य प्रौढ़ स्वरूपसुन्दर मनोहर शब्दब्रह्म का रूप धारण करता है तथा साक्षात् परब्रह्म के साथ प्रत्यक्ष वार्तालाप करता हुआ और गाढ़ आलिगन देता हुआ दृष्टिगोचर होता है। ऐसा सहजभाव होता है कि यहाँ शब्दब्रह्म निर्विकल्प सजीव हो गया है और परब्रह्म साक्षात् साकार हो गया है। एक ज्ञायकभाव रूप परमात्म-तत्त्व की गुणगौरव-गाथा गाती हुई आचार्यश्री की प्रतिभा को कहीं

थकान नही रसहानि नही, प्रत्युत वर्धमान रसोत्कर्ष ही है। सहस्त्रावधि नित्य तालबद्ध नृत्य करते हुए नये अर्थगर्भ शब्दो की और लालित्यपूर्ण पदो की सृष्टि सस्कृत साहित्य का मनाहरो नदनवन बनो है। स्वात्मविहारी आचार्यश्री की आत्मा तो स्वय ससार के रागरगो से अत्यन्त अलिप्त विदेही ही थी। परन्तु पाठको को साथ लेकर उन्हे भी ससारभावो से दूर उन्मुक्त मनसा मोक्ष मार्ग मे विहार कराती हुई नजर आती है।

(२) 'प्रवचनसार' मे वही प्रतिभा सूक्ष्म ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्वो का यथावत् परिचय कराती है। अमूर्त तथा मूर्त वस्तु की अनेकान्तात्मकता और पृथगात्मता का साक्षात्कार कराती है। मोक्षमार्ग मे वह ज्ञायक आत्मा किस प्रकार अग्रसर होता है—यह चारित्रचूलिका मे दृष्टिगोचर होता है। सारा वर्णन हृदयग्राही हुआ है।

(३) 'पचास्तिकाय' की समयव्याख्या मे भी पचास्तिकायो के स्वरूप निर्णय के साथ ही साथ कालद्रव्य का वर्णन भी सातिशय स्वरूप हुआ है।

(४) 'तत्त्वार्थसार'—यह आचार्यश्री का पद्यात्मक ग्रन्थ है। इसमे तत्त्वार्थसूत्रातर्गत विषयो का विशदरूप से वर्णन आया है। यथास्थान प्रस्तुत विषय के साथ सम्बन्ध रखने वाले अवातर विषय भी आए हैं। सपूर्ण रचना प्रसादगुण विशिष्ट है। सरल है। सात तत्त्वो का भूतार्थनय से किस प्रकार ज्ञान होता है, इसका भी निरूपण आया है।

(५) 'लघुतत्त्वस्फोट'—यह आचार्यश्री की नई उपलब्धि है। यह इस शताब्दि का अलभ्यलाभ है। इसमे भिन्न विभिन्न छदो मे अत्यन्त प्रौढ सस्कृत मे पच्चीस-पच्चीस पद्यो मे एक-एक भगवान् का—इस प्रकार चौबीसो भगवानो का स्तवन है। स्तुति के माध्यम से अनेकान्त, अहिंसा, आचार, अध्यात्म, व्यवहार-निश्चय की संधि, उपादान-निमित्त सम्बन्ध आदि महत्त्वपूर्ण सूक्ष्म विषयो का सुन्दरतम विन्यास आचार्यश्री समन्तभद्र के स्वयभूस्तोत्र की तरह तत्त्वगर्भ चमत्कारपूर्ण और सागर की तरह गहन—गभीर है।

(६) 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' - यह आचार्यश्री का सर्वतंत्रस्वतंत्र ग्रन्थ सस्कृत भाषा की २२६ कारिकाओं मे निबद्ध है।" आचार विषयक मूलगुण तथा अणुव्रतादि के वर्णन करने के पूर्व मे ही १६ कारिकाओं मे मंगलाचरण पूर्वक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दृष्टिदान किया है। ये कारिकाएँ सम्पूर्ण ग्रथ मे वर्णित आचार के अतस्तत्त्व को पूर्णरूप से प्रकाशित करने के लिए आदि-दीपक की तरह अतीव उपयोगी हैं। प्राय· जनसामान्य की जीवनी उपचारो से अभिभूत और पर्यायाश्रित विचारों से प्रभावित होती है। विचारों मे और आचार मे व्यवहार दृष्टि का अत्यधिक प्रभुत्व होता है। अज्ञानी जीवो के लिए वह उपचार या व्यवहार ही धर्मसर्वस्व या सब कुछ होता है। इसीलिए आचार्यश्री का सुस्पष्ट सकेत है कि—

"उपचारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति"

—अर्थात् जो केवल उपचारो को सर्वस्व रूप मे स्वीकार करते हैं ऐसे अज्ञानी उपदेश के पात्र नही हैं। उपचार कथन को आचार्यश्री ने अभूतार्थ, असत्यार्थ, मिथ्या एव संसार दु खो का कारण होने से हेय कहा है, और वस्तु तत्त्व को यथार्थ रूप मे व्यक्त करने वाले निश्चय को भूतार्थ, सत्यार्थ, यथार्थ, सत्य, तीर्थ प्रवर्तक होने के कल्याणकारी, अनुसरण करने योग्य एव उपादेय कहा है।

जीवद्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय है तथा अपने गुणपर्यायो से समन्वित और पुद्गल के स्पर्शादि गुणो से सर्वथा रहित, सचेतन 'पुरुष' है। वह अपने ही परिणामो का कर्त्ता तथा भोक्ता है। स्वाधीन सुख या हित ही पुरुष का प्रयोजन अर्थात् पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ की सिद्धि रत्नत्रय द्वारा ही सभव है। यही आचार्यश्री की दृष्टि का केन्द्र बिन्दु रहा है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इस रत्नत्रयी में ज्ञान और चारित्र की समीचीनता के लिए सम्यग्दर्शन की हर तरह से निरतिचार उपासना की प्रेरणा की गई है। अष्टांगों का निरूपण (कारिका २० से ३० तक) है। अज्ञानी इस दृष्टि के अभाव मे किस

प्रकार की गलतियाँ करता है, इसका अनुभवो के आधार पर अन्वेषण करके सुधार के लिए शुभ संकेत किये हैं।

सम्यग्ज्ञान अधिकार मे ६ कारिकाओ द्वारा अनेकान्तात्मक तत्त्व निर्णय के लिए ज्ञानाराधना की प्रेरणा है, जोकि मध्यदीपक की तरह दोनो —सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की यथार्थता का प्रकाशक और परिचायक है।

चारित्राधिकार (कारिका ३७ से १६६) मे अष्टमूल गुणो के तथा बारह उत्तरगुणो के एकदेश और मुनियो के सर्वदेश आचार का वर्णन आया है। आत्मविशुद्धि जीवित रहे, आचारो मे औपचारिकता का प्रवेश न हो इसलिए जगह-जगह उपासक और साधक को सचेत किया है। चारित्र का मूलाधार सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक आत्मविशुद्धि होता है। यह विशुद्धि आत्मा के शुद्ध स्वरूप के साक्षी से ही सभव है, इसीलिए चारित्र को स्पष्ट रूप से 'आत्मरूप', 'निवृत्तिरूप' तथा 'उदासीन' आदि अर्थवाही समर्थक शब्दों द्वारा कहा है। तात्पर्य यह है कि साधक का निरतिचाररत्नत्रय ही 'पुरुषार्थ' है, पुरुषार्थ की सिद्धि है और पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय भी है। देह मे मेरुदण्ड की तरह साधक को साधना मे रत्नत्रय ही सब कुछ है।

अणुव्रतों के वर्णन मे अहिंसा का वर्णन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विस्तार-पूर्वक (कारिका ४२ से ९०) आया है जो विशेष अध्ययन की और मनन की वस्तु है। अन्यत्र ऐसा अजोड़ स्वरूप वर्णन कही देखने को नहीं मिलता। शेष व्रत और सल्लेखना अभेदनय से अहिंसा ही है—इसे व्रतो के वर्णन मे तार्किक पद्धति से स्पष्ट किया गया है। स्वरूप मे असावधानी और पाँचो पाप आत्मा के विशुद्ध परिणामो के घातक होने से बध के कारण एव हेय हैं। प्रत्युत ज्ञानी के ही व्रतादि विशुद्ध परिणामों के लिए साधक स्वरूप होने से व्रतों की जो उपादेयता कही है वह व्यवहार कथन है। वास्तव में जितने अशों मे सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र है, उतने हो अंशो मे बध का अभाव होता है। अतः वे हो मुक्ति के परमार्थत कारण हैं—यह स्पष्ट निर्देश है।

पांचो अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों के वर्णन की समाप्ति १७५ वीं कारिका में तथा सल्लेखना के वर्णन पूर्वक सम्यग्दर्शन तथा १२ व्रतो और सल्लेखना के पांच-पांच अतिचारो के वर्णन की समाप्ति १९६ वीं कारिका मे होती है। इन अतिचारों के परित्याग पूर्वक परिपालन से ही जीवात्मा भी पुरुषार्थसिद्धि को शीघ्रता से प्राप्त होता है।

अनतर सकल चारित्र के वर्णन मे छह बाह्य तप, छह अंतरग तप, षडावश्यक, तीन गुप्ति, पांच समिति, दशधर्म, बारह भावनाएँ और बाईस परीषहजय के सक्षिप्त वर्णनपूर्वक पुन. कारिका २०९ से अन्त तक रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है, वह बंध का कारण नहीं तथा योग और कषाय—ये बध के ही कारण हैं, वे मुक्ति के कारण नहीं—इसका ऊहापोहपूर्वक जो वर्णन आया है वह अन्त्यदीपक की तरह (कारिका २०९ से २२५) अत्यन्त महत्त्व की दृष्टि दान करता है। उसके अभाव मे साधक मुनि हो चाहे गृहस्थ हो, सारा क्रिया काण्ड तुषखण्डन तुल्य होता है। आचार्य श्री का इस प्रकार निस्संदिग्ध निर्णय स्पष्ट है।

ऐसे पारगामी अतर्मुख दृष्टि प्राप्त और अधिकार-सपन्न आचार्य प्रवर का लौकिक परिचय स्वय ने किसी भी ग्रन्थ मे प्रशस्ति द्वारा या किसी भी रूप मे नही दिया। आचार्यश्री द्वारा केवल अलौकिक, लोकोत्तर-लोकोत्तम ग्रन्थ रचना द्वारा जिनवाणी के प्राणस्वरूप अतस्तत्त्व का यत्र-तत्र-सर्वत्र रसपूर्ण जो आविष्कार हुआ है, वह निस्संशय ही शब्दशक्ति का एक तरह से विश्वव्यापी विषयपूरक प्रशस्त समुद्घात ही हुआ है जो अमूर्त विषय का साक्षात्कार कराने मे पूर्णतया समर्थ हुआ है। इतना सब होते हुए भी अपनी शुद्ध परमासाधारण, निर्मम, निरहकार उत्तुग अतरंग आत्म प्रवृत्ति का परिचय इसी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ के अंत मे सक्षेपतः जो प्रस्तुत है, वह इस प्रकार है—

'वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥ (२२६)

आशय यह है कि नाना वर्णों ने शब्द किये। शब्दो ने पदो की रचना की। पदो ने वाक्य बनाये और वाक्यो ने यह परमपावन शास्त्र निर्माण किया। इसमे हमारा कर्त्तृत्व कुछ भी नही है। यह है आचार्य-श्री की लोक-विलक्षण दृष्टि-प्राप्त जागृत उत्कृष्ट अतरात्मा का सच्चा परिचय। इतिहास वेत्ताओ ने आचार्यश्री का काल साधारण तौर से ईसा की दसवी शताब्दी निर्णीत किया है, और पडितप्रवर आशाधर जी के 'एतच्च विस्तरेण ठक्करामृतचन्द्रसूरिविरचित-समयसार-टीकायाँ द्रष्टव्यम्'—एतावन्मात्र उल्लेख से क्षत्रिय राजघराने से आचार्यश्री का सम्बन्ध अनुमानित किया है। जो भी हो ज्ञायक स्वरूप आत्मा की परमात्मता का यथार्थ दर्शन कराने वाले आचार्यश्री के प्रौढ, विचक्षण, उत्कृष्ट अन्तरात्मा के चरणो मे मस्तक नतमस्तक होता हुआ हृदय यही कहता है जो हजार वर्ष पूर्व आचार्यश्री अमित-गति ने परमात्म-स्मरण करते समय कहा—

'पादौ त्वदीयौ मम निष्ठता सदा तमो धुनानौ हृदि दीपकाविव।'

हे मुनीश! हे स्वामिन्! अज्ञान तमस को दूर भगाने मे समर्थ प्रकाशपुज दीपको के समान आपके दो पाद (निश्चय और व्यवहार—ये दोनो प्रकाश किरणे) मेरे हृदय मे सदा ही आसीन रहो।

इस ग्रन्थ के अनुवाद पूर्व मे हिन्दी, मराठी, गुजराती, अग्रेजी मे अनेक हुए हैं। आचार्यकल्प पडितप्रवर श्री टोडरमल जी का अनुवाद यद्यपि खण्डान्वय रूप है, फिर भी आचार्यश्री का हार्द उसमे पूर्ण रूप से आया है।

प्रस्तुत सफल अनुवाद के अनुवादक पू० क्षुल्लक श्री धर्मानन्द जी महाराज प्रामाणिक विचारो के स्वामी अध्ययनशील अभीक्ष्ण ज्ञानो-पयोगी त्यागी हैं। धारावाही हिन्दी और इग्लिश भाषा के धनी हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचार का आपके द्वारा जो अनुवाद हुआ है, वह अपनी विशेषता रखता है। दोनो अनुवादो मे कलम की कुशलता दृग्गोचर होती है। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय का यह अनुवाद भी अत्यन्त उपयोगी वस्तु बन गई है। यह समाज के ऊपर आपका महान् उपकार

है। समुचित सुन्दर सत्श्रुत के इस नये अवतार का समादरपूर्वक स्वागत करते हुए आज प्रसन्नता का ही अनुभव हो रहा है। समाज मे भी इसका स्वागत ही होगा।

मेरा अहोभाग्य रहा है कि पू० क्षुल्लक जी के निश्छल पवित्र जीवनी को और धर्मप्रवण प्रवृत्तियो को निकट से बाहुबली (कुम्भोज) मे देखने को मिला। आपके निरपेक्ष वात्सल्य भावो की अविरत वर्षा होती रही जिसके लिए आपका कृतज्ञ हूँ। आपका आदेश तो इस ग्रन्थ की प्रस्तावना का था, परन्तु महाव्रत सदृश आदेश की पालना शक्ति और बुद्धि से परे थी, इसलिए यह सक्षिप्त 'पुरोवाक्' लिख दिया है।

महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, माणिकचन्द्र जयकुमार चवरे
कारजा-४४४१०५
१८ अक्तूबर १९८९
(कार्तिक बदी ४, वीर सवत् २५१५)

विषय-सूची

।। श्री वीतरागाय नम. ।।

श्रीमदमृतचन्द्राचार्य-विरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

(१) उत्थानिका

मगलाचरण—

तज्जयति पर ज्योति' सम समस्तैरनन्तपर्यायै. ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ।।
।। १ - १ - १ ।।

अन्वयार्थ (**यत्र**) जिसमे (**दर्पणतल इव**) दर्पण के तल/सतह के समान (**सकला**) सम्पूर्ण/समस्त (**पदार्थमालिका**) पदार्थों का समूह (**समस्तैरनन्तपर्यायै: सम**) त्रिकालवर्ती समस्त अनन्त पर्यायो सहित (**प्रतिफलति**) प्रतिबिम्बित होता है (**तत्**) वह (**पर ज्योति**) सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतना रूप प्रकाश (**जयति**) जयवन्त हो ।

अर्थ—जिसमे दर्पण के तल/सतह के समान सम्पूर्ण पदार्थों का समूह त्रिकालवर्ती समस्त अनन्त पर्यायो सहित प्रतिबिम्बित होता है, वह सर्वोत्कृष्ट शुद्ध चेतना रूप प्रकाश जयवन्त हो ।

विशेषार्थ—यह अध्यात्मविद्या के मर्मज्ञ आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा रचित 'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय' नाम का ग्रन्थ है । इसमे भव्य जीवो के हितार्थ पुरुषार्थ की सिद्धि अर्थात् निज शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति का उपाय, गृहस्थोचित अहिंसादि व्रतो का स्वरूप तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का अतिसुगम प्रतिपादन है ।

सर्वप्रथम ही परंज्योति—केवलज्ञान की जय-जयकार करते हुये मगल श्लोक कहा है। सर्वोत्कृष्ट शुद्धचेतना रूप प्रकाश की (केवलज्ञान की) कुछ ऐसी अद्भुत महिमा है कि उसमे तीनो लोक—मध्यलोक, ऊर्ध्वलोक और अधोलोक—के समस्त जीवादि चराचर पदार्थ अपनी त्रिकालवर्ती भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान काल सम्बन्धी अनन्त पर्यायो सहित सहज स्वभाव से ही दर्पण के समान प्रतिबिम्बित होते हैं। मगलाचरण मे आचार्यश्री ने केवलज्ञान को दर्पण की उपमा दी है। कोई पदार्थ अपने स्वरूप को छोडकर, प्रतिबिम्बित होने की अभिलाषा से अथवा बलात् दर्पण के पास नही जाता और न ही दर्पण अपने स्वभाव को छोडकर, पदार्थ को प्रतिबिम्बित करने की इच्छा मे अथवा जबरन उसके पास जाता है, पदार्थ को ऐसा राग-द्वेष भी नही है कि यह दर्पण मेरे लिए हितकारी है, इसलिए उसमे प्रतिबिम्बित होऊ या यह मेरे लिये अहितकारी है, इसलिये इसमे प्रतिबिम्बित न होऊ। दर्पण को भी पदार्थ के प्रति राग-द्वेष नही है कि यह पदार्थ मेरे लिए हितकारी है, इसलिए इसे प्रतिबिम्बित करू, या यह मेरे लिये अहितकारी है, इसलिये इसे प्रतिबिम्बित न करू। फिर भी इनका सहज ही ऐसा सम्बन्ध है कि दर्पण मे उसकी स्वच्छतागुण तथा योग्यता के कारण योग्य क्षेत्र मे स्थित घट-पट आदि पदार्थ अनायास ही स्वभाव से प्रतिबिम्बित होते है।

ठीक यही स्थिति परज्योति—शुद्धचेतना रूप प्रकाश/केवलज्ञान की है। ज्ञान मे पदार्थों को प्रतिबिम्बित करने की शक्ति है तथा ज्ञेयो—पदार्थों मे प्रतिबिम्बित होने की शक्ति है। ज्ञान अपने स्वरूप को छोडकर, प्रतिबिम्बित करने की अभिलाषा मे अथवा बलात् पदार्थ के पास नही जाता, ज्ञान को ऐसा राग-द्वेष भी नही है कि यह पदार्थ मेरे लिये हितकारी है, इसलिये इसे प्रतिबिम्बित करू, या यह मेरे लिये अहितकारी है, इसलिये इसे प्रतिबिम्बित न करू। पदार्थ को भी ज्ञान के प्रति ऐसा राग-द्वेष नहीं है कि यह (ज्ञान) मेरे लिये हितकारी है, इसलिये इसमे प्रतिबिम्बित होऊ, या यह मेरे लिये अहितकारी है, इसलिए इसमे प्रतिबिम्बित न होऊ। फिर भी निरावरण ज्ञान मे सर्वोत्कृष्ट निर्मलता तथा योग्यता के कारण तीन लोक मे स्थित समस्त जीवादि चराचर पदार्थ अपनी त्रिकालवर्ती

अनन्त पर्यायो सहित दर्पण के समान सहज स्वभाव से ही प्रतिबिम्बित होते हैं। ऐसा कोई पदार्थ या पर्याय नही जो ज्ञान मे न आया हो। ऐसी परंज्योति—सर्वोत्कृष्ट शुद्धचेतना—स्तवन करने योग्य है।

मगलाचरण मे किसी व्यक्ति-विशेष को नमस्कार न करके गुण को (परज्योति को) नमस्कार क्यो किया गया है ? इसका समाधान—भक्त दो प्रकार के होते हैं—एक आज्ञाप्रधानी और दूसरे परीक्षा-प्रधानी। जो देव-शास्त्र-गुरु के उपदेश को प्रमाण मानकर, उसका अनुसरण करके ही भक्ति-स्तुति इत्यादि करते हैं, वे आज्ञाप्रधानी हैं। जो सम्यग्ज्ञान द्वारा पहले भक्ति-स्तुति इत्यादि करने योग्य गुणो का अच्छी तरह निश्चय करते हैं, तत्पश्चात् स्तुति इत्यादि विनय करते है, वे परीक्षाप्रधानी है। क्योकि कोई पद अथवा वेश गुणो के विना पूज्य नही है, इसलिये आचार्यश्री ने परीक्षाप्रधानी होने के कारण गुण को (परज्योति को) नमस्कार किया है। यह गुण अरहन्त और सिद्ध मे ही होता है अत. वास्तव मे तो उन्ही को नमस्कार हुआ।

आगम को नमस्कार—

परमागमस्य जीव निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथन नमाम्यनेकान्तम्॥
॥ १-२-२ ॥

अन्वयार्थ—(**निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्**) जन्म से अन्धे पुरुषो के हाथी-विधान का निषेध करने वाला (**सकलनयविलसितानाम्**) समस्त नयो से प्रकाशित वस्तु-स्वभाव का (**विरोधमथनं**) विरोध दूर करने वाला (**परमागमस्य**) उत्कृष्ट जैन आगम/सिद्धान्त के (**जीव**) जीवभूत (**अनेकान्तम्**) अनेकान्त को (**नमामि**) मैं नमस्कार करता हूँ।

अर्थ—जन्म से अन्धे पुरुषो के हाथी-विधान का निषेध करने वाला, समस्त नयो से प्रकाशित वस्तु स्वभाव का विरोध दूर करने वाला, उत्कृष्ट जैन आगम/सिद्धान्त के जीवभूत अनेकान्त को मैं (अमृतचन्द्राचार्य) नमस्कार करता हूँ।

विशेषार्थ—इस श्लोक मे आचार्यश्री ने पुन मगलाचरण के रूप मे उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त अनेकान्त – स्याद्वाद को नमस्कार किया है। वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है प्रत्येक वस्तु अनेक गुणो/धर्मों से युक्त है। वस्तु के अनेकान्त-स्वरूप को समझाने वाली सापेक्ष कथन पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं। "स्याद्+वाद" = कथचित् नय-अपेक्षा से वस्तु के स्वभाव का कथन करना अथवा नाना दृष्टिकोणो से वस्तु स्वरूप का विचार करना स्याद्वाद है। जो वस्तु एक है वही अनेक भी है, जो सत् है वही असत् भी है, जो नित्य है वही अनित्य भी है—इस प्रकार एक ही वस्तु मे दो विरोधी शक्तियो का प्रकाशित होना अनेकान्त है। वस्तु के अनन्त धर्मों का कथन एक साथ सभव नही। शब्दो की शक्ति सीमित है। एक समय मे एक ही धर्म का कथन किया जा सकता है। जिसकी विवक्षा की जाती है, वह मुख्य होता है और शेष सभी धर्म गौण हो जाते है। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि गौण धर्म का लोप हो जाता है। वस्तु मे सभी धम प्रतिसमय विद्यमान रहते है, परन्तु इनकी विवक्षा वक्ता की इच्छानुसार होती है। स्याद्वाद अविवक्षित धर्मों को गौण करता है, उनका अभाव नही करता। अनेकान्तवाद सर्वनयात्मक है। जिस प्रकार बिखरे हुये मोतियो को एक सूत्र मे पिरो देने से सुन्दर हार बन जाता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न नयो को स्याद्वाद-रूपी सूत्र मे पिरो देने मे सम्पूर्ण नय श्रुत प्रमाण कहे जाते है।

विरोध वस्तु-स्वरूप मे नही है, अज्ञान मे है। जिस प्रकार कुछ जन्म के अन्धे पुरुषो ने हाथी के पृथक्-पृथक् अगो का स्पर्श किया और उसी के आधार पर हाथी के शरीर का आकार निश्चित कर लिया। वे हाथी के सर्वांग आकार को न जानने के कारण आपस मे विवाद करते है तथा एक-दूसरे को झूठा ठहराते हैं, परन्तु वस्तु-स्वरूप अर्थात् हाथी के शरीर का आकार निश्चय नही कर पाते। ऐसी हालत मे कोई नेत्रवान पुरुष ही हाथी के शरीर का सर्वांग वर्णन करके उनके भ्रम को दूर कर सकता है। इसी प्रकार अज्ञानी अल्पज्ञ पुरुष वस्तु के अनेक अगो—अनेक धर्मों का अपनी बुद्धि से नाना प्रकार का निश्चय कर लेता है और वस्तु के सर्वांग को न जानकर एकान्त रूप

से हठाग्रही होकर विवाद करता है। कुछ मतावलम्बी वस्तु को केवल नित्य ही मानते है, तथा अन्य केवल अनित्य/क्षणिक ही मानते हैं। परन्तु स्याद्वाद-विद्या के बल से सम्यग्ज्ञानी कहता है कि वस्तु न तो सर्वथा नित्य है और न ही सर्वथा अनित्य है। यदि सर्वथा नित्य ही माना जाये तो अनेक पर्यायो – अवस्थाओ का पलटना (होना) किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? यदि वस्तु नित्य कूटस्थ हो तो वस्तु का ही लोप हो जायेगा। और जो सर्वथा अनित्य/क्षणिक ही माना जाये तो "यह वही वस्तु है, जो पहले देखी थी"—इस प्रकार का ज्ञान कैसे सभव है ? इसलिये वस्तु द्रव्य की अपेक्षा कथचित् नित्य है और पर्याय की अपेक्षा कथचित् अनित्य/क्षणिक है। इस प्रकार स्याद्वाद समस्त एकान्त नय-विवादो को मिटाकर सर्वांग वस्तु स्वभाव को प्रकाशित करके विरोध को दूर करता है। इसलिए स्याद्वाद को परमागम का जीवभूत—प्राण कहा गया है।

नयविवक्षा से वस्तु मे अनेक परस्पर विरोधी स्वभाव पाये जाते हैं, परन्तु स्याद्वाद उन सब विरोधो को दूर कर देता है। जैसे 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनो एक दूसरे के बिलकुल विरोधी हैं, परन्तु स्याद्वाद से सिद्ध करने मे समस्त विरोध दूर हो जाते है। क्योंकि एक ही पदार्थ स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव) की अपेक्षा कथचित् 'अस्तिरूप है और परचतुष्टय (परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव) की अपेक्षा कथचित् 'नास्तिरूप' है। द्रव्य की अपेक्षा कथचित् एकरूप है तथा पर्याय की अपेक्षा कथचित् अनेक रूप है। द्रव्य की अपेक्षा कथचित् नित्य है और पर्याय की अपेक्षा कथचित् अनित्य/क्षणिक है। सज्ञा, सख्या, लक्षण तथा प्रयोजन की अपेक्षा से गुण, पर्याय आदि कथचित् भेदरूप है और सत् की अपेक्षा अभेदरूप है। वस्तु के स्वरूप का सर्वांग अविरोधी निश्चय करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को अनेकान्त का आश्रय लेना चाहिये। उपर्युक्त विशेषताओ को ध्यान मे रखते हुये आचार्यश्री ने परमागम के जीवभूत अनेकान्त को नमस्कार किया है।

ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा—

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन।
अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥
॥ १-३-३ ॥

अन्वयार्थ—(**लोकत्रयैकनेत्र**) तीन लोक सम्बन्धी पदार्थों को प्रकाशित करने मे अद्वितीय नेत्र (**परमागम**) परम जैन आगम को (**प्रयत्नेन**) अनेक प्रकार के उपायो से (**निरूप्य**) तथा जैन सिद्धान्त को परम्परा से जानकर (**अस्माभि.**) हमारे द्वारा (**विदुषा**) विद्वानो के लिये (**अय**) यह (**पुरुषार्थसिद्ध्युपायः**) 'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय' ग्रन्थ (**उपोद्ध्रियते**) प्रस्तुत किया जाता है।

अर्थ—तीनलोक सम्बन्धी पदार्थों को प्रकाशित करने मे अद्वितीय नेत्र - परम जैन आगम को अनेक प्रकार के उपायो से तथा जैनसिद्धान्त को परम्परा से जानकर हमारे द्वारा विद्वानो के लिये यह 'पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय' ग्रन्थ प्रस्तुत किया जाता है।

विशेषार्थ—आचार्यश्री ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा करते हुये कहते हैं कि—'मैं यह ग्रन्थ अपनी बुद्धि से कल्पना करके नही रच रहा हू, बल्कि तीनोलोक सम्बन्धी समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने मे अद्वितीय नेत्र—जैन परमागम को अनेक प्रकार के उपायो से तथा जैन सिद्धान्त को केवली-श्रुतकेवली तथा पूर्वाचार्यो की परम्परा से जानकर, ज्ञानी जीवो—जिन्हे प्रमाण, नय, निक्षपादि का प्रारभिक ज्ञान है, ऐसे विद्वानो के लिये यह 'पुरुषार्थसिद्धि-उपाय' नाम का ग्रन्थ अथवा 'निज शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति का उपाय' प्रकट करता हू। जब तक प्रमाण, नय और निक्षेपादि का सामान्य ज्ञान न हो, तब तक परमागम को समझना शक्य नही है।

वक्ता का लक्षण—

मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः ।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥
॥ १-४-४ ॥

अन्वयार्थ—(**मुख्योपचार**) मुख्य और उपचार (**विवरण**) कथन के विवेचन से (**निरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः**) शिष्यों के दुर्निवार/अपार अज्ञान भाव को जिन्होंने नष्ट कर दिया है तथा जो (**व्यवहार-निश्चयज्ञाः**) व्यवहार और निश्चय के जानने वाले हैं, ऐसे आचार्य (**जगति**) जगत् मे (**तीर्थम्**) धर्म-तीर्थ का (**प्रवर्तयन्ते**) प्रवर्तन कराते है।

अर्थ—मुख्य और उपचार कथन के विवेचन मे शिष्यो के दुर्निवार/अपार अज्ञानभाव को जिन्होने नष्ट कर दिया है तथा जो व्यवहारनय और निश्चयनय के जानने वाले है—ऐसे आचार्य जगत् मे धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कराते है।

विशेषार्थ उपदेश देने वाले आचार्य मे आगम का ज्ञान, तत्त्वार्थ-श्रद्धान, संयमभाव, क्रोधादि कषायो का अभाव, शान्त स्वभाव इत्यादि अनेक गुण होने चाहिये। परन्तु इनके साथ-साथ व्यवहारनय और निश्चयनय का ज्ञान होना अति आवश्यक और मुख्य है। क्योंकि जीवो क अनादि काल से चला आ रहा अज्ञान मिथ्यात्वभाव मुख्य (निश्चयनय) तथा उपचार (व्यवहारनय) के उपदेश के द्वारा ही दूर किया जा सकता है। मुख्य कथन अर्थात् वस्तु का वास्तविक स्वरूप तो निश्चयनय के, और उपचार कथन व्यवहारनय के अधीन है।

निश्चयनय क्या है?—जो अभेद व अनुपचार से वस्तु-स्वरूप का निश्चय करता है वह निश्चयनय है। निश्चयनय स्वाश्रित अर्थात् आत्मा के आश्रित है। जिस द्रव्य के अस्तित्व मे जो भाव पाये जावे, उस द्रव्य मे उन्ही की स्थापना करना तथा किंचित्मात्र भी अन्य कल्पना नही करने का नाम 'स्वाश्रित' है। गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी का भेद अथवा द्रव्य मे गुण या पर्याय का भेद करना निश्चयनय का विषय नही है। अन्य द्रव्य के सम्बन्ध से अन्य द्रव्य मे उपचरित होने वाला धर्म भी निश्चयनय का विषय नही है। निश्चयनय का विषय तो भेद और उपचार रहित अखण्ड द्रव्य है। इसी कथन को मुख्य कथन अथवा निश्चयनय का कथन कहते है।

अनादि काल से यह जीव अज्ञानभाव—मिथ्यात्वभाव के कारण स्त्री-पुत्र, धन-सम्पदा आदि तथा शरीरादि, आत्मा से भिन्न बाह्य पर-पदार्थों को अपना स्वरूप मानता आ रहा है, और चारो गतियो की चौरासी लाख योनियो मे पुन· पुन जन्म-मरण करता हुआ अनन्त दु ख भोग रहा है। अपने शुद्धस्वरूप को न जानता हुआ, शरीराश्रित नाना क्रियाकाण्डो को ही करने योग्य मानकर ससार के कारणभूत शुभोपयोग को ही मुक्ति का कारण मानकर अपने स्वरूप से च्युत हुआ ससार मे परिभ्रमण कर रहा है। निश्चयनय के विषय-भूत आत्मा का जब तक न जाने तब तक जीव अज्ञानी ही है। मुख्य कथन (निश्चयनय) के उपदेश से इस अनादि अज्ञानी जीव के अज्ञानभाव का अभाव होकर कर्म-आस्रव और आत्मा के स्वरूप का भेदज्ञान होने से अनादि कर्मबन्ध-सन्तति रुक जाती है। समस्त द्रव्यो से भिन्न निज शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव होता है। तब परमानन्द रूप अपने शुद्ध आत्म स्वरूप मे लीन होकर केवलदशा (केवलज्ञान) प्राप्त करता है। इसलिये इस प्रकार का मुख्य कथन अर्थात् निश्चय-नय का उपदेश भी आवश्यक है। निश्चयनय को जाने विना यथार्थ उपदेश सभव नही है। जो स्वय ही न जानता हो तो वह उपदेश कैसे दे सकता है। अत उपदेशक को मुख्य कथन का ज्ञाता होना आवश्यक है।

व्यवहारनय क्या है ? —जो नय भेद और उपचार से वस्तु का कथन करता है वह व्यवहारनय है। गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी को भेद करके जो वस्तु का ग्रहण करता है वह व्यवहारनय का विषय है। जो परद्रव्य के आश्रित है अर्थात् पराश्रित है उसे व्यवहार नय कहते है। जो किसी भी कारण से अन्य द्रव्य का भाव अन्य द्रव्य मे आरोपित करे उसे 'पराश्रित' कहते है और उसी का नाम उपचार कथन है।

व्यवहारनय का कथन भी यथापदवी यथार्थ है। इसे जानकर ही आत्मा और शरीरादिक के सम्बन्धरूप ससार दशा का ज्ञान होता है। ससार के कारण आस्रव-बन्ध तथा मुक्त होने के उपाय सवर-निर्जरा का बोध होता है। जो इस व्यवहार—साधन को जाने

बिना ही इसको छोडकर शुद्धोपयोगी होने का प्रयत्न करता है, वह अवश्य ही पापाचरण मे लीन होकर नरक-निगोद के दु खो मे जा गिरता है। इसलिये उपचार-कथन का उपदेश देना भी आवश्यक है, और यह व्यवहार नय के अधीन हैं। इस प्रकार दोनो नयो के जानने वाले उपदेशक आचार्य ही सच्चे धर्मतीर्थ के चलाने वाले होते है।

दोनो नयो का उपदेश किस प्रकार करते है—

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहार वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुखः प्राय. सर्वोऽपि ससार ॥
॥ १-५-५ ॥

अन्वयार्थ– (**इह**) इस ग्रन्थ मे (**निश्चय**) निश्चयनय को (**भूतार्थं**) भूतार्थ और (**व्यवहार**) व्यवहारनय को (**अभूतार्थं**) अभूतार्थ (**वर्णयन्ति**) वर्णन करते है (**प्रायः**) प्राय (**भूतार्थबोध-विमुख.**) भूतार्थ के ज्ञान से विरुद्ध जो भी अभिप्राय है, वह (**सर्वोऽपि**) सभी (**ससार.**) ससार स्वरूप है।

अर्थ—इस ग्रन्थ मे निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ वर्णन करते हैं। प्राय भूतार्थ के ज्ञान से विरुद्ध जो भी अभिप्राय है, वह सभी ससार-स्वरूप है।

विशेषार्थ– इस श्लोक मे आचार्यश्री ने निश्चयनय को 'भूतार्थ' और व्यवहारनय को 'अभूतार्थ' कहा है, और निश्चयनय के विपरीत जो भी अभिप्राय (परिणाम) हैं, उन सबको ससार-स्वरूप बतलाया है, अर्थात् उनका फल ससार ही है।

'भूतार्थ' का अर्थ है—निश्चय ही पदार्थों मे पाया जाने वाला भाव। इसी को सत्यार्थ भी कहते हैं। जिस प्रकार कोई सत्यवादी सत्य ही बोलता है, कल्पना करके कुछ भी नही कहता, उसी प्रकार निश्चय ही पदार्थों मे पाये जाने वाले भाव के, अन्य किसी कल्पना के बिना, ज्यो का त्यो कहने को भूतार्थ अथवा सत्यार्थ कहते हैं। यद्यपि जीव और पुद्गल का अनादि काल से एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध

है (दोनो एक ही क्षेत्र मे स्थित है) और देखने मे दोनो मिले हुए जान पडते हैं, तो भी निश्चयनय आत्मा को शरीरादि अन्य द्रव्यो से भिन्न ही प्रकाशित करता है। यही भिन्नता मुक्त अवस्था मे प्रकट होती है। इसलिये पदार्थ के स्वरूप को ज्यो का त्यो प्रकट करने के कारण निश्चयनय भूतार्थ/सत्यार्थ है।

'अभूतार्थ' का अर्थ है—पदार्थ मे न पाये जाने वाले कल्पित-भाव। इसी को असत्यार्थ भी कहते है। जिस प्रकार कोई असत्यवादी जरा सा भी बहाना पाकर अनेक कल्पना करके असत्य को सत्य रूप प्रकाशित करता है, उसी प्रकार पदार्थ मे न पाये जाने वाले अनेक कपोलकल्पित भावो को आरोपित करने को अभूतार्थ अथवा असत्यार्थ कहते है। यद्यपि जीव और पुद्‌गल की सत्ता भिन्न है, स्वभाव भिन्न है, प्रदेश भिन्न है, तथापि व्यवहारनय एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध का बहाना पाकर आत्मा को शरीरादिक परद्रव्यो से एकत्व रूप कहता है। मुक्त अवस्था मे भिन्नता प्रत्यक्ष ही प्रकट हो जाती है, तब व्यवहारनय भी भिन्न-भिन्न प्रकाशित करने को तैयार होता है। इसलिए आचार्य श्री ने निश्चयनय के ज्ञान से विपरीत जो भी परिणाम हैं, उन सबको ससार-स्वरूप कहा है।

इस जीव के परिणाम जब निश्चय के श्रद्धान से विमुख होकर शरीर आदिक परद्रव्यो मे एकत्व-बुद्धि करके परिणमन करते है, तब उसी को ससार कहा जाता है। इससे भिन्न ससार कोई पृथक् पदार्थ नही है। इसलिये जो जीव संसार मे मुक्त होना चाहता है उसे शुद्ध निश्चयनय के सन्मुख रहना ही योग्य है। कर्मों से भिन्न आत्मा के देखने वालो को व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नही है। इसी को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते है। जैसे- कोई पुरुष तो ऐसे गदले जल को पीता है जिसकी स्वच्छता कीचड मिलने से नष्ट हो गई है, और कोई दूसरा पुरुष उसी गदले जल को पहले निर्मली डालकर ऐसा स्वच्छ कर लेता है कि उसका पुरुषाकार प्रतिबिम्ब उस जल मे झलकने लगता है, तत्पश्चात् उसका आस्वादन करता है। उसी प्रकार अज्ञानी जीव, जिसका ज्ञानस्वभाव कर्म-सयोग के कारण ढक गया है, वह अशुद्ध आत्मा का ही अनुभव करता है। इसके

विपरीत ज्ञानी जीव अपनी बुद्धि से शुद्धनिश्चयनय के द्वारा कर्म और आत्मा के स्वरूप को पृथक्-पृथक् जानकर, अपनी शुद्ध-निर्मल आत्मा का ही अनुभव करता है, अपने चैतन्य शुद्धस्वरूप का ही आस्वादन करता है। अत निश्चयनय निर्मली के समान है, उसी का श्रद्धान और ज्ञान करना चाहिये। कहा भी है—'व्यवहारनय सब ही अभूतार्थ है, इसलिये वह अविद्यमान, असत्य, अभूत अर्थ को प्रकट करता है; शुद्धनय एक ही भूतार्थ होने से सत्य, भूत अर्थ को प्रकट करता है।'

(आ० अमृतचन्द्र-टीका स०सा० गा० ११)

जो श्रोता कथित अर्थ के उपदेश को ग्रहण करने योग्य नही है उनका कथन—

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा: देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥
॥ १-६-६ ॥

अन्वयार्थ—(**मुनीश्वरा**) मुनीश्वर (**अबुधस्य**) अज्ञानी जीवो को (**बोधनार्थम्**) ज्ञान उत्पन्न करने के लिये (**अभूतार्थं**) व्यवहारनय का (**देशयन्ति**) उपदेश देते है (**य:**) जो जीव (**केवल**) केवल (**व्यवहारम् एव**) व्यवहारनय को ही (**अवैति**) जानता है (**तस्य**) उसके लिये (**देशना**) उपदेश (**नास्ति**) नही है।

अर्थ—मुनीश्वर अर्थात् आचार्य अज्ञानी—मिथ्यादृष्टि जीवो को ज्ञान उत्पन्न करने के लिये व्यवहारनय का उपदेश देते हैं। जो जीव केवल व्यवहारनय को ही जानता है, उसके लिये उपदेश नही है।

विशेषार्थ—अनादिकालीन अज्ञानी जीव को व्यवहारनय के उपदेश के बिना समझाना सभव नही, इसलिये उपदेशक आचार्य व्यवहारनय के द्वारा ही उन्हें समझाते हैं। जैसे किसी म्लेच्छ को किसी ने आशीर्वाद के रूप मे 'स्वस्ति' कहा। वह म्लेच्छ 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ न समझने के कारण उसके मुँह की ओर ताकता रहा। तभी किसी अन्य पुरुष ने उसे बताया कि 'स्वस्ति' का अर्थ है—'तेरा

कल्याण हो'। तब वह म्लेच्छ प्रसन्न हुआ। ठीक इसी प्रकार उपदेशक आचार्य ने जब अज्ञानी जीव को 'आत्मा' शब्द कहकर उपदेश दिया तो वह कुछ भी नही समझ सका और आचार्य के मुँह की ओर ताकता रहा। तब निश्चयनय और व्यवहारनय के ज्ञाता आचार्य ने व्यवहार-नय के द्वारा गुण-गुणी इत्यादि मे भेद उत्पन्न करके उसे 'आत्मा' शब्द इस प्रकार समझाया—'जो देखने वाला, जानने वाला तथा आचरण करने वाला पदार्थ है उसे आत्मा कहते है।' तब वह आनन्दित हुआ 'आत्मा' के निजस्वरूप को समझ पाता है।

घी से भरे हुये मिट्टी के घडे को व्यवहारनय से 'घी का घडा' कहा जाता है। कोई पुरुष जन्म से ही उसको 'घी का घडा' जानता है, अन्य किसी प्रकार नही समझता। निश्चयनय से विचार करे तो घडा तो मिट्टी का ही है, परन्तु उसमे घी रखा होने के कारण व्यवहार मे समझाने के लिये 'घी का घडा' ही कहना पडता है। इसी प्रकार यह चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्मजनित नाना पर्यायो मे जन्म लेता है। जिन्हे व्यवहार से देव, मनुष्य इत्यादि नाम से कहा जाता है। यह अज्ञानी जीव अनादि से उन पर्यायो को धारण करता हुआ, उन्ही को अपना वास्तविक स्वरूप माने हुये है। जब कोई उसे देव, मनुष्य आदि कहकर समझावे तभी वह समझता है, अन्य किसी तरह नही समझता। यदि आत्मा का नाम 'चेतन्यस्वरूप' कहा जाये तो अन्य ही किसी पदार्थ को आत्मा समझ लेता है। निश्चय से विचार करे तो आत्मा 'चैतन्यस्वरूप' ही है, परन्तु अज्ञानी जीव को समझाने के लिये आचार्य गति (नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति, देव गति) तथा जाति (एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक) आदि के भेद द्वारा व्यवहार-नय से आत्मा का वर्णन करके उसके स्वरूप को समझाते हैं।

यहाँ आचार्यश्री का ऐसा अभिप्राय है कि शिष्यो को योग्यता-नुसार वस्तु-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान व्यवहार और निश्चय दोनो नयो के कथन द्वारा कराना चाहिये। जो जीव केवल व्यवहार मार्ग का ही श्रद्धान करता है तथा उसी का आचरण करता है, निश्चय के श्रद्धान अर्थात् अपने परमार्थ स्वरूप को नही समझता, ऐसे अज्ञानी—मिथ्या-दृष्टियो को उपदेश देने से कोई लाभ नही है।

केवल व्यवहारनय के श्रद्धान होने का क्या कारण है—

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य ।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ।।

।। १-७-७ ।।

अन्वयार्थ—(**यथा**) जिस तरह (**अनवगीतसिंहस्य**) सिंह को बिलकुल ही न जानने वाले पुरुष के लिये (**माणवकः**) बिल्ली (**एव**) ही (**सिंह**) सिंह रूप (**भवति**) होती है (**हि**) निश्चय ही (**तथा**) उसी तरह (**अनिश्चयज्ञस्य**) निश्चयनय के स्वरूप को न जानने वाले पुरुष के लिये (**व्यवहार**) व्यवहारनय (**एव**) ही (**निश्चयतां**) निश्चयपने को (**याति**) प्राप्त होता है ।

अर्थ - जिस तरह सिंह को बिलकुल ही न जानने वाले पुरुष के लिए बिल्ली ही सिंह रूप होती है, निश्चय ही उसी तरह निश्चयनय के स्वरूप को न जानने वाले पुरुष के लिये व्यवहारनय ही निश्चयपने को प्राप्त होती है, अर्थात् वह व्यवहार को ही निश्चय मान बैठता है।

विशेषार्थ—जैसे किसी पुरुष को जिसने पहले कभी भी सिंह को देखा-जाना न हो, उसको यह बतलाया जाये कि सिंह बिल्ली के समान होता है तो वह अज्ञानवश बिल्ली को ही सिंह मान बैठता है । उसी प्रकार अज्ञानी जीव निश्चय के स्वरूप को न जानता हुआ, व्यवहार को ही निश्चय मान लेता है । वह अपने चैतन्य-स्वरूप आत्मा के श्रद्धान-ज्ञान तथा आचरण रूप मोक्षमार्ग को न पहचानता—जानता हुआ केवल व्यवहार श्रद्धान-ज्ञान तथा आचरण को ही अपनाकर अपने को मोक्षमार्गी मान लेता है । देव-शास्त्र-गुरु का अथवा सात तत्त्वार्थों इत्यादि का श्रद्धान करके अपने को सम्यग्दृष्टि मानता है । थोडे से शास्त्र को जानकर अपने को ज्ञानी मानता है। महाव्रत अथवा अणुव्रत को ग्रहण करके अपने को चारित्रवान् कहता है। शुभोपयोग से सन्तुष्ट होकर, शुद्धोपयोग रूप मोक्षमार्ग मे आलसी होकर उद्यम नही करता है । ऐसा पुरुष केवल व्यवहारनय को ही पकडे हुये है, इसलिये उसे उपदेश देना निष्फल है । यहा प्रश्न हो

सकता है—तो फिर उपदेश किसे देना चाहिये, श्रोता के क्या गुण हैं? इसका उत्तर आचार्य अगले श्लोक में देते हैं।

श्रोता का लक्षण—

व्यवहारनिश्चयौ य प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थ.।
प्राप्नोति देशनाया. स एव फलमविकल शिष्य ।।
।। १-८-८ ।।

अन्वयार्थ (**य.**) जो जीव (**व्यवहारनिश्चयौ**) व्यवहारनय और निश्चयनय को (**तत्त्वेन**) वस्तुस्वरूप के द्वारा (**प्रबुध्य**) यथार्थ रूप से जानकर (**मध्यस्थ.**) मध्यस्थ (**भवति**) होता है (**स.**) वह (**एव**) ही (**शिष्य.**) शिष्य (**देशनाया.**) उपदेश का (**अविकलं**) सम्पूर्ण (**फल**) फल (**प्राप्नोति**) प्राप्त करता है।

अर्थ—जो जीव व्यवहारनय और निश्चयनय को वस्तुस्वरूप के द्वारा यथार्थ रूप से जानकर मध्यस्थ होता है, अर्थात् दोनो नयो के पक्षपात रहित होता है, वही शिष्य उपदेश का सम्पूर्ण फल प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—श्रोता मे भी शास्त्र तथा गुरूपदेश मे श्रद्धा-भक्ति, निज शुद्ध तत्त्व तथा मोक्षमार्ग के प्रति जिज्ञासा और लगन इत्यादि अनेक गुण होने चाहिये। परन्तु व्यवहारनय और निश्चयनय को भली प्रकार जानकर, किसी एक नय का पक्ष ग्रहण करके हठाग्रही न होना यह गुण मुख्य तथा महत्त्वपूर्ण है।

मोक्षमार्ग मे लगे हुये जीव को व्यवहारनय अथवा निश्चयनय—किसी नय को भी छोडना उचित नही है। यदि निश्चयनय का पक्षपाती होकर व्यवहारनय को छोड देगा तो रत्नत्रयस्वरूप धर्मतीर्थ का ही लोप हो जायेगा। यदि व्यवहारनय का पक्ष पकड कर निश्चयनय को छोड देता है तो मोक्ष के आधारभूत निजशुद्धस्वरूप का अनुभव ही सभव नही है। इसलिये व्यवहारनय और निश्चयनय के स्वरूप को यथार्थ रूप से जानकर यथायोग्य पक्षपातरहित अगीकार करना ही उत्तम श्रोता का लक्षण है।

वक्ता और श्रोता दोनों मे ही व्यवहारनय और निश्चयनय को यथार्थ रूप से जानने का गुण तो समान है, परन्तु वक्ता में इन गुणो की बहुलता है तथा श्रोता मे वही गुण अल्पमात्रा में रहते हैं।

पुरुष का स्वरूप—

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः॥
॥ १-६-६ ॥

अन्वयार्थ—(पुरुष) पुरुष—आत्मा (चिदात्मा) चैतन्यस्वरूप (अस्ति) है (स्पर्शगन्धरसवर्णैः) स्पर्श, गन्ध, रस और वर्ण से (विवर्जितः) रहित है (गुणपर्ययसमवेतः) गुण और पर्याय सहित है तथा (समुदयव्ययध्रौव्यैः) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (समाहितः) से युक्त है।

अर्थ—पुरुष अर्थात् आत्मा चैतन्यस्वरूप है। स्पर्श, गन्ध, रस और वर्ण से रहित है। गुण और पर्याय सहित है तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है।

विशेषार्थ— इस श्लोक मे आचार्यश्री ने 'पुरुष' का स्वरूप बताते हुये उसके चार विशेषणो का वर्णन किया है— (१) चैतन्यस्वरूप है, (२) स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण रहित है, (३) गुण और पर्याय सहित है तथा (४) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। उन्ही का खुलासा करते हैं—

(१) लोक मे उत्तम गुणो का जो सेवन करे उसे 'पुरुष' कहते हैं, अथवा ज्ञान-दर्शन रूप उत्तम 'चेतना' जिसका लक्षण है उसे पुरुष कहते हैं। लक्षण तीन दोषो से रहित होना चाहिये। 'चेतना' लक्षणो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असंभव—इन तीन दोषो से रहित होने से पुरुष अर्थात् आत्मा का असाधारण लक्षण है। जो लक्षण किसी लक्ष्य (जिस द्रव्य का लक्षण किया जाये) मे तो हो और किसी लक्ष्य मे न हो उसे अव्याप्ति दोष कहते हैं। परन्तु कोई भी आत्मा 'चेतना' रहित

नही है, इसलिये अव्याप्ति दोष नही लगता। यदि आत्मा का लक्षण रागादिक कहे तो अव्याप्ति दोष लगता है क्योकि राग केवल ससारी जीवो मे पाया जाता है, सिद्ध/मुक्त जीवो मे नही। जो लक्षण लक्ष्य मे हो और अलक्ष्य मे भी हो उसे अतिव्याप्ति दोष कहते हैं। परन्तु 'चेतना' आत्म द्रव्य के अलावा किसी अन्य द्रव्य मे नही पाई जाती, इसलिये अतिव्याप्ति दोष नही लगता। यदि आत्मा का लक्षण अमूर्त्तत्व कहें तो अतिव्याप्ति दोष लगता है, क्योकि अमूर्त्तत्व धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य तथा काल द्रव्य मे भी पाया जाता है। जो लक्षण लक्ष्य मे असभव हो अर्थात् न पाया जाये उसे असभव दोष कहते है। 'चेतना' आत्म द्रव्य मे प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से सिद्ध है, इसलिये असभव दोष भी नही आता। यदि आत्मा का लक्षण जडपना कहे तो असभव दोष लगता है क्योकि यह प्रत्यक्ष से बाधित है। इस प्रकार 'चेतना' लक्षण तीनो दोषो से रहित है।

चेतना के दो भेद है। एक ज्ञानचेतना और दूसरी दर्शनचेतना। ज्ञान जीव का विशेष गुण है जो स्व और पर दोनो को जानने मे समर्थ है। जो पदार्थों को साकाररूप, सविकल्प अथवा विशेष रूप से जाने वह ज्ञानचेतना है। जिसके द्वारा देखा जाये उसे दर्शन कहते है। दर्शन भी जीव का विशेष गुण है। जो पदार्थ को निराकार, निर्विकल्प सामान्य रूप से जाने उसे दर्शनचेतना कहते है। पुन परिणामो की अपेक्षा चेतना के तीन भेद है—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफल चेतना। जब यह चेतना शुद्धज्ञान स्वरूप से परिणमन करती है तब ज्ञानचेतना कहलाती है। ज्ञानचेतना शुद्ध कहलाती है तथा सम्यग्दृष्टि जीव के ही होती है। जब यह चेतना राग-द्वेष-क्रोधादि कषाय रूप परिणमन करती है तब कर्मचेतना कहलाती है और जब हर्ष-विषाद, रोग-शोकादि के अनुभवन रूप परिणमन करती है, तब कर्मफलचेतना कहलाती है। इस प्रकार चेतना के अनेक भेद हैं, परन्तु आत्मा मे चेतना का अभाव कभी नही होता। इसी चेतना से सयुक्त आत्म द्रव्य का नाम 'पुरुष' है।

(२) पुन. 'पुरुष'—आत्मा अमूर्तिक है तथा पुद्गल द्रव्य से भिन्न है। आठ प्रकार के स्पर्श (शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु,

कठोर, हलका, भारी), पाँच प्रकार के रस (खट्टा, मीठा, कडवा, तीखा, कसैला), दो प्रकार की गन्ध (सुगन्ध, दुर्गन्ध) तथा पाँच प्रकार के वर्ण (लाल, पीला, नीला, काला, सफेद) इत्यादि जो पुद्गल के लक्षण हैं, उनसे रहित अमूर्तिक है। क्योंकि यह आत्मा अनादि सम्बन्ध रूप पुद्गल द्रव्य मे अज्ञानवश अहंकार (शरीरादि तथा पर्यायो मे एकत्व बुद्धि) और ममकार रूप (प्रत्यक्ष भिन्न स्त्री-पत्र आदि मे एकत्व बुद्धि) प्रवृत्ति करता है, इसलिये आत्मद्रव्य को पुद्गल द्रव्य से भिन्न प्रकट करने के लिये 'अमूर्तिक' विशेषण का प्रयोग किया गया है।

(३) पुन 'पुरुष' गुण और पर्याय सहित है। 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' गुण और पर्यायो वाला द्रव्य होता है। आत्मा भी एक द्रव्य है, इसलिये गुण और पर्यायो सहित विराजमान है। गुण का लक्षण सहभूत किया गया है, अर्थात् जो द्रव्य मे सदाकाल पाया जावे उसे गुण कहते है। गुण कभी भी द्रव्य से भिन्न नही रहता, प्रत्येक पर्याय मे सदा काल पाया जाता है।

साधारण तथा असाधारण के भेद से गुण दो प्रकार के हैं। दर्शन-ज्ञान आदि आत्मा के सदाकाल पाये जाने वाले असाधारण गुण है, क्योकि यह अन्य द्रव्यो मे नही पाये जाते। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, द्रव्यत्व तथा प्रदेशत्व द्रव्य के साधारण गुण है क्योकि ये अन्य द्रव्यो मे भी पाये जाते है। पर्याय का लक्षण क्रमवर्ती है। जो द्रव्यो मे अनुक्रम (एक के बाद एक) से उत्पन्न हो उसे पर्याय कहते है। पर्याय के भी दो भेद हैं एक व्यजनपर्याय तथा दूसरी अर्थपर्याय। आत्मा मे जो नर-नारकादि आकार रूप पर्याय होती है उन्हे विभाव व्यजनपर्याय तथा सिद्ध के आकार रूप जो पर्याय है उसे स्वभाव व्यजनपर्याय कहते है। ज्ञानादि गुणो का भी स्वभाव रूप अथवा विभाव रूप परिणमन होता है, जिन्हे स्वभाव अर्थपर्याय तथा विभाव अर्थपर्याय कहते है। अगुरुलघुत्व गुण के कारण द्रव्य मे होने वाली षट्गुणी हानि-वृद्धि को अर्थपर्याय कहते है। आत्मा का इन गुण और पर्यायो के साथ तादात्म्य एकता सम्बन्ध है।

(४) पुन· 'पुरुष' उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सयुक्त है। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्'— जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है वह सत् - द्रव्य है। आत्मा भी एक द्रव्य है, इसलिये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है। नवीन अर्थपर्याय तथा व्यजनपर्याय का उत्पन्न होना 'उत्पाद', पूर्व पर्याय का नाश 'व्यय' तथा गुण की अपेक्षा और पर्याय की अपेक्षा शाश्वत रहना 'ध्रौव्य' कहलाता है। जिस प्रकार सोने के ककण को तोडकर कुण्डल बनवाया जाये तो कुण्डल पर्याय का उत्पाद होता है, ककण पर्याय का नाश होता है, परन्तु सोना सभी पर्यायो मे शाश्वत रहता है। उसी प्रकार आत्मा मे भी नवीन अर्थपर्याय तथा व्यजनपर्याय का उत्पाद, व्यय होता रहता है तथा आत्मद्रव्य सदाकाल सभी अवस्थाओ मे शाश्वत रहता है। इस प्रकार आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हुआ।

पुरुष के अशुद्धता किस तरह हुई —

परिणममानो नित्य ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामाना स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥

॥ १-१०-१० ॥

अन्वयार्थ—(**स·**) वह चैतन्य आत्मा (**अनादिसन्तत्या**) अनादि सन्तति अर्थात् परिपाटी से (**नित्य**) निरन्तर (**ज्ञानविवर्त्तै.**) ज्ञानादि गुणो के विकार रूप रागादि परिणामो से (**परिणममानः**) परिणमन करता हुआ (**स्वेषा**) अपने (**परिणामाना**) रागादि परिणामो का (**कर्त्ता च भोक्ता च**) कर्त्ता और भोक्ता भी (**भवति**) होता है।

अर्थ—वह चैतन्य आत्मा अनादि सन्तति अर्थात् परिपाटी से निरन्तर ज्ञानादि गुणो के विकार रूप रागादि परिणामो से परिणमन करता हुआ, अपने रागादि परिणामो का कर्त्ता और भोक्ता भी होता है।

विशेषार्थ—यह चैतन्य आत्मा अनादिकाल से अशुद्ध चला आ रहा है। आत्मा और द्रव्यकर्म रूपी अशुद्धता का 'सुवर्णकिट्टिकावत्'

(सुवर्ण और उसकी कीट के समान) अनादि सम्बन्ध के कारण ही यह आत्मा अपने शुद्ध चैतन्य ज्ञान स्वभाव को भूला हुआ रागादि भावो को करता रहता है। उदय मे आये हुए कर्मों मे इष्ट-अनिष्ट भाव से राग-द्वेष तथा मोहरूप परिणमन करता है। यद्यपि इन रागादि रूप परिणमन होने मे द्रव्यकर्म कारण हैं, तथापि यह परिणाम चेतनामय आत्मा के ही हैं, जोकि 'भावकर्म' कहलाते है। आत्मा के इन रागादि रूप परिणामो का निमित्त पाकर पुद्गल कर्म वर्गणायें स्वय कर्म रूप परिणमन करती हैं। इस प्रकार द्रव्य कर्म से भावकर्म और भावकर्म से नवीन द्रव्यकर्म-बन्ध—यह चक्र अनादि काल से चल रहा है।

चूंकि रागादि रूप परिणामो का कर्त्ता चैतन्य आत्मा है, इसलिये कहा जाता है कि इन परिणामो का व्याप्य-व्यापक भाव से आत्मा ही कर्त्ता है और भाव्य-भावक भाव से आत्मा ही भोक्ता है। व्याप्य-व्यापक भाव क्या है?—जो नियम से सहचारी हो उसे व्याप्ति कहते है--जैसे धुआं और अग्नि अर्थात् जहाँ धुआं होता है वहाँ अग्नि होती है। ठीक इसी प्रकार रागादि परिणामो मे और आत्मा मे व्याप्ति है। जहाँ रागादि परिणाम होते है, वहाँ आत्मा होती ही है, क्योकि रागादि परिणाम आत्मा मे ही होते है, आत्मा के विना नही होते। इस व्याप्ति क्रिया मे जो कर्म है उसे 'व्याप्य' कहते हैं और क्रिया करने वाला आत्मा 'व्यापक' कहलाता है। जहाँ व्याप्य (कर्म) व्यापक (कर्त्ता) सम्बन्ध हो वही कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध सभव है, अन्य स्थान मे नही। इस प्रकार आत्मा 'कर्त्ता' है और पुद्गल रूप कर्म उसका 'कर्म' है।

भाव्य-भावक भाव क्या है?—अनुभव करने योग्य भाव को 'भाव्य' और और अनुभव करने वाले को 'भावक' कहते हैं। इस प्रकार कर्मों के उदय मे आत्मा जो रागादि परिणाम का अनुभव करता है वह 'भाव्य' है और आत्मा उनका अनुभव करता है इसलिये 'भावक' है। इस प्रकार आत्मा अपने कर्मों का 'भोक्ता' है और कर्म उसके 'भोग्य' हैं।

निश्चयनय की दृष्टि से देखा जाये तो व्याप्य-व्यापक भाव तथा भाव्य-भावक भाव एक ही पदार्थ मे घटित होते हैं, दो भिन्न पदार्थों मे नही। वास्तव मे आत्मा अपने ही परिणामो का कर्त्ता है, पुद्गल कर्म का कर्त्ता नही है। आत्मा के परिणाम और पुद्गल के परिणाम मे परस्पर निमित्तनैमित्तिकपना तो सभव है, परन्तु परस्पर कर्त्ता-कर्म भाव तो है ही नही। पुद्गल कर्म के निमित्त से जो रागादि भाव हुए, उनका कर्त्ता तो आत्मा को अज्ञान दशा मे कदाचित् कह सकते है, परन्तु आत्मा पुद्गल कर्म का कर्त्ता तो कदापि नही है। इसी प्रकार आत्मा अपने ही परिणामो का भोक्ता है, पुद्गल कर्मों का भोक्ता कदापि नही है। कहा भी है—

'आत्मा व्यवहारनय से पुद्गल कर्मों का कर्त्ता है, निश्चयनय से चेतन कर्मों का कर्त्ता है और शुद्धनय से शुद्ध भावो का कर्त्ता है।'
(द्रव्यसग्रह गा० ८)

'व्यवहारनय से आत्मा सुख-दु ख रूप पुद्गल कर्म के फल का भोक्ता है और निश्चयनय से अपने चेतन भाव का भोक्ता है।'
(द्रव्यसग्रह गा० ९)

'निश्चयनय का यह मत है, जो आत्मा है सो आपहीकू करे है बहुरि आपहीकू वेदे है, भोगवे है, हे शिष्य, तूं ऐसें जानि।
(समयसार गा० ८३)

अशुद्ध आत्मा की सिद्धि कब होती है तथा सिद्धि किसे कहते है—

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्य. सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्न.॥
॥ १-११-११ ॥

अन्वयार्थ—(**यदा**) जब (**स.**) वह अशुद्धात्मा (**सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं**) सब विभावो मे पार होकर (**अचलम्**) अपने अचल (**चैतन्यम्**) चैतन्य स्वरूप को (**आप्नोति**) प्राप्त होता है (**तदा**) तब 'यह आत्मा' उस (**सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिम्**) सही ढग से पुरुषार्थ के प्रयोजन की

सिद्धि को (**आपन्नः**) प्राप्त होता हुआ (**कृतकृत्यः**) कृतकृत्य (**भवति**) होता है।

अर्थ—जब वह अशुद्धात्मा सब विभावो से पार होकर अपने अचल – निष्कम्प चैतन्यस्वरूप को प्राप्त होता है तब 'यह आत्मा' उस सही ढग से पुरुषार्थ के प्रयोजन की सिद्धि को प्राप्त होता हुआ कृतकृत्य (जिसने अपना कर्तव्य पूरा कर लिया है) होता है।

विशेषार्थ—इस श्लोक मे आचार्यश्री ने पुरुषार्थ की सिद्धि के उपाय का सक्षेप मे वर्णन किया है। जब यह अनादि अशुद्धात्मा स्व-पर भेदविज्ञान से (आत्मा तथा आत्मा से भिन्न पदार्थों के सम्यग्ज्ञान से) शरीरादिक परद्रव्यो को अपने से पृथक् जानने लगता है तब उन परद्रव्यो से इष्टानिष्ट की कल्पना का पूर्ण त्याग कर देता है। जब उसे यह दृढ श्रद्धान हो जाता है कि 'मेरा भला-बुरा मेरे अपने परिणामो से ही होता है, परद्रव्यो के करने से मेरा भला-बुरा नही हो सकता', तब वह आत्मा से भिन्न समस्त परद्रव्यो मे राग-द्वेष भावो का त्याग कर देता है। फिर भी यदि किसी अवशता के कारण रागादि अथवा इष्टानिष्ट बुद्धि की उत्पत्ति होती है तो उसके नाश के लिये वह अनुभव के अभ्यास मे सतत प्रयत्नशील रहता है। ऐसा अभ्यास करते-करते जब समस्त विभावो का नाश हो जाता है और अक्षुब्ध समुद्रवत् शुद्धात्म-स्वरूप मे लवणवत् लवलीन हो जाता है (जिस प्रकार शान्त समुद्र और लवण लवलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा का अपने शुद्धात्म-स्वरूप मे लवलीन हो जाना), तब ध्याता और ध्येय का विकल्प नष्ट हो जाता है, अर्थात् वह ऐसा नही जानता कि मैं (ध्याता) शुद्धात्म स्वरूप (ध्येय) का ध्यान कर रहा हूँ। उस समय वह स्वय ही शुद्धात्म-स्वरूप परिणत हुआ उसी मे निष्कम्प विचरण करता है। उस समय आत्मा की कृतकृत्य अवस्था उत्पन्न होती है, क्योकि उसको जो कुछ करना था सब कर लिया, अब कुछ भी करना शेष नहीं है। इस अवस्था को पुरुषार्थसिद्धि अथवा शुद्धात्मा की सिद्धि कहते है।

आत्मा और परद्रव्य (कर्म) के सम्बन्ध का कारण—

जीवकृत परिणाम निमित्तमात्र प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन॥
॥ १-१२-१२ ॥

अन्वयार्थ -(**जीवकृत**) जोव द्वारा किये हुये (**परिणाम**) रागादि परिणामो का (**निमित्तमात्र**) निमित्त मात्र (**प्रपद्य**) पाकर (**पुन**) फिर (**अन्यपुद्गला**) जीव से भिन्न जो अन्य पुद्गल स्कन्ध है (**अत्र**) वे आत्मा मे (**स्वयमेव**) अपने आप ही (**कर्मभावेन**) ज्ञानावरणादि कर्म रूप (**परिणमन्ते**) परिणमन कर जाते है।

अर्थ—जीव द्वारा किये हुये रागादि परिणामो का निमित्तमात्र पाकर, जोव से भिन्न जो अन्य पुद्गल स्कन्ध है, वे आत्मा मे अपने आप हो ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन कर जाते है।

विशेषार्थ -जिस समय यह जीव राग-द्वेष-मोह भाव से रागादि भाव रूप परिणमन करता है, उस समय उन भावो का निमित्त पाकर पुद्गल कमवर्गणाये स्वय हो कर्म रूप परिणमन कर जाती हैं। जिस प्रकार खाया हुआ भोजन उदर-अग्नि का निमित्त पाकर स्वयमेव रस-रुधिर आदि सप्त धातु रूप परिणमन कर जाता हे, उसी प्रकार पुद्गल कर्मवर्गणाओ मे भी ऐसी योग्यता है कि आत्मा के विभाव भावो का निमित्त पाकर वे स्वयमेव ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप परिणमन कर जाती है। इतना विशेष जानना चाहिये कि यदि देव, शास्त्र और गुरु इत्यादि क अनुराग रूप परिणमन करे तो शुभकर्म (पुण्यकर्म) का बन्ध होता है और यदि विपरीत राग-द्वेष-मोह रूप परिणमन करे तो अशुभकर्म (पाप कर्म) का बन्ध होता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि पुद्गल कर्म तो जड हैं, उनको जीव के परिणामो का ज्ञान कैमे होता है कि वे पुण्य-पाप रूप स्वय परिणमन कर जाते हैं ? उसका समाधान—जैसे कोई मन्त्र-साधक पुरुष गुप्त स्थान मे बैठकर मन्त्र जाप करता है। उस मन्त्र के जाप मे ऐसी शक्ति है कि उसके निमित्त से मन्त्र-साधक के कुछ किये विना ही

किसी को पीड़ा उत्पन्न होती है, किसी का भला होता है, किसी का मरण हो जाता है और किसी को आकुलता इत्यादि होती है। मन्त्र-जाप का निमित्त पाकर चेतन-अचेतन पदार्थ स्वय ही अनेक अवस्था रूप परिणमन कर जाते है। ठीक उसी प्रकार अज्ञानी जीव अपने अन्तरग मे विभाव भाव करता है। उन भावो का निमित्त पाकर, उसके कुछ किये विना ही कोई पुद्‌गल पुण्य प्रकृति रूप तथा कोई पाप प्रकृति रूप परिणमन करते हैं, ऐसा ही भावो की शक्ति है। भावो का निमित्त पाकर पुद्‌गल स्वय ही अनेक रूप परिणमन कर जाता है, ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है।

जीव मे विभावभाव उत्पत्ति का निमित्त—

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्‌गलिकं कर्म तस्यापि ॥
॥ १-१३-१३ ॥

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय ही (**स्वकैः**) अपने (**चिदात्मकैः**) चैतन्य स्वरूप (**भावैः**) रागादि परिणामो मे (**स्वयमपि**) अपने आप ही (**परिणममानस्य**) परिणमन करते हुये (**तस्य चित अपि**) पूर्वोक्त आत्मा के भी (**पौद्‌गलिकं**) पुद्‌गल सम्बन्धी (**कर्म**) ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म (**निमित्तमात्र**) निमित्त मात्र (**भवति**) होता है।

अर्थ—निश्चय ही अपने चैतन्यस्वरूप रागादि परिणामो से अपने आप ही परिणमन करते हुये पूर्वोक्त आत्मा के भी, पुद्‌गल सम्बन्धी ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म निमित्त मात्र होता है।

विशेषार्थ—जीव मे रागादि विभाव परिणाम स्वयं होते हैं या उनका कोई निमित्त है? समाधान—इस जीव मे रागादि विभाव परिणाम स्वय अपने आप नही होते। यदि रागादि परिणाम स्वय ही उत्पन्न हो तो वे भी ज्ञान-दर्शन की तरह स्वभावभाव हो जाये, और स्वभाव भाव तो कभी भी नाश को प्राप्त नही हो सकता। जिस प्रकार चुम्बक पत्थर के (Magnet) मे लोहे की सुई को अपनी ओर खीचने

की शक्ति है और सुई मे चुम्बक की तरफ खिचने की शक्ति है, उसी प्रकार अज्ञान अवस्था मे जीव मे द्रव्यकर्म के उदय का निमित्त पाकर रागादि रूप परिणमन करने की विभाव शक्ति है और पुद्गल कर्मों मे अज्ञानी जीव को रागादि रूप परिणमन कराने की शक्ति है। अत रागादिक विभाव परिणाम औपाधिक है, जो कि जीव की अज्ञान अवस्था मे ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों के निमित्त से उत्पन्न होते हैं। जैसे-जैसे द्रव्यकर्म उदय को प्राप्त होते है, वैसे-वैसे आत्मा अपने अज्ञान भाव के कारण विभाव भावो मे परिणमन करता है। इस प्रकार द्रव्यकर्म से भावकम और भावकर्म से द्रव्यकर्म होते रहते हैं, इसे ही ससार कहते हैं।

पुद्गल कर्मों मे ऐसी कौनसी शक्ति है जो चैतन्य आत्मा को रागादि विभावभाव रूप परिणमन कराती है? समाधान—जैसे किसी पुरुष पर मन्त्रपूर्वक धूलि डाली जावे तो वह अपने स्वभाव को भूल-कर, मन्त्र से प्रभावित धूलि की शक्ति के कारण नाना प्रकार की विपरीत चेष्टाये करने लगता है, इसी प्रकार आत्मा के प्रदेशो मे रागादि के निमित्त से बँधे हुये पुद्गल कर्मों की शक्ति के कारण आत्मा अपने स्वभावभाव को भूलकर अज्ञान भाव से नाना प्रकार के विभाभावो मे परिणमन करता है। कहा भी है—

"अज्ञानी अपने अज्ञानमय भावो की भूमिका मे व्याप्त होकर, द्रव्यकर्म के निमित्त भावो के हेतुत्व को प्राप्त होता है अर्थात् द्रव्यकर्म के निमित्त रूप भावो का हेतु होता है।" (समयसारकलश ६८)

ससार का मूल कारण—

एवमय कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्॥
॥ १-१४-१४ ॥

अन्वयार्थ—(**एवम्**) इस प्रकार (**अयं**) यह आत्मा (**कर्मकृतैः**) कर्मों द्वारा किये हुये (**भावैः**) रागादि अथवा शरीरादि भावो से

(**असमाहितोऽपि**) संयुक्त न होने पर भी (**बालिशानां**) अज्ञानी जीवो को (**युक्त इव**) संयुक्त जैसा (**प्रतिभाति**) प्रतिभासित होता है और (**सः प्रतिभासः**) वह प्रतिभास ही (**खलु**) वास्तव में (**भव-बीजम्**) ससार का बीज रूप है।

अर्थ—इस प्रकार यह आत्मा कर्मों द्वारा किये हुये रागादि अथवा शरीरादि भावो मे सयुक्त न होने पर भी, अज्ञानी जीवो को संयुक्त जैसा प्रतिभासित होता है, और वह प्रतिभास ही वास्तव मे ससार का बीज रूप है।

विशेषार्थ—पूर्व मे कहा था कि पुद्गल कर्म के कारणभूत आत्मा के रागादि भाव है और रागादि भावो का कारण पुद्गल कर्म है, इसलिये यह आत्मा तो निजशुद्ध स्वभाव की अपेक्षा कर्मजनित नाना प्रकार के भावो से भिन्न चैतन्य मात्र पदार्थ है। जिस प्रकार लाल फूल का निमित्त पाकर स्फटिक लाल रग का दिखलाई देता है परन्तु वास्तव मे वह लाल नही है। लाल रग तो उसमे प्रवेश किये बिना ऊपर ही ऊपर झलकता है। रत्न-परीक्षक इस तथ्य को भली प्रकार जानता है, परन्तु जो रत्नपरीक्षा की कला नही जानता, उसे स्फटिक लाल रंग का ही दिखलाई देता है। इसी प्रकार आत्मा पूर्वबद्ध कर्म के निमित्त से रागादि रूप परिणमन करता है, परन्तु वास्तव मे रागादिक आत्मा के स्वभाव नहीं है। आत्मा तो अपने निर्मल चैतन्य गुण मे ही स्थित है, रागादि भाव तो उसमे प्रवेश किये विना ऊपर ही ऊपर झलकते है। इस तथ्य को स्वरूप का परीक्षक ज्ञानी जीव भली प्रकार जानता है, अज्ञानी पुरुष को वास्तव मे आत्मा रागादिक रूप ही प्रतिभासित होता है।

शका—पहले रागादि भावो को जीवकृत कहा था, अब उन्हे कर्म-कृत कैसे कहते हो? समाधान—रागादि भाव जीव में उत्पन्न होते हैं, चेतना रूप हैं, इसलिये उनका कर्त्ता जीव ही है। यहां त्रैकालिक स्वभाव का श्रद्धान कराने के लिये जीव के शुद्ध स्वभाव की अपेक्षा से रागादि भाव कर्म के निमित्त से होते हैं, इसलिये 'उन्हे कर्मकृत

कहा गया है। जैसे किसी पुरुष को भूत लग जाये तो वह भूत के निमित्त से नाना प्रकार की विपरीत क्रियायें करता है। उन क्रियाओ का कर्त्ता तो वास्तव मे वह मनुष्य ही है परन्तु वे क्रियाये उसका निजभाव नही है, इसलिये भूतकृत कही जाती है। इसी प्रकार यह जीव कर्मों के निमित्त मे अनेक प्रकार के रागादि भाव रूप परिणमन करता है। उन रागादि परिणामो का कर्त्ता तो वास्तव मे जीव ही है, परन्तु वे जोव के निजभाव नही है। इसलिए उन्हे कर्मकृत कहते हैं। कर्मकृत नाना पर्याये, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, कर्म, नोकर्म, देव-नारकी-मनुष्य-तिर्यंच शरीर, सहनन, सस्थानादि भेद अथवा पुत्र, मित्र, मकान, धन, धान्यादि समस्त भेदो मे शुद्धात्मा प्रत्यक्ष भिन्न ही है। जिस प्रकार कोई मनुष्य अज्ञानी गुरु के कहने से एकान्त झोपडी मे बैठकर भैसे का ध्यान करे और अपने को भैसे के समान विशाल शरीर तथा बडे सीगो वाला मानकर, यह सोचने लगे कि झोपडी से बाहर कैसे निकलूगा। यदि वह अपने को भैसे के समान न माने तो वह मनुष्य रूप तो है ही। इसी प्रकार यह जीव मोह के कारण अपने को वर्णादिक रूप मानकर देवादि पर्यायो को अपना मानता है। यदि ऐसा न माने तो वह शुद्ध अमूर्तिक रूप तो स्वय है ही।

इस प्रकार यह आत्मा कर्मजनित रागादिक तथा वर्णादिक भावो से सदा काल भिन्न है। कहा भी है—'जो वर्णादिक अथवा राग-मोहादिक भाव है, वे सब ही इस पुरुष (आत्मा) से भिन्न है।' (समयसार कलश-३७)। अज्ञानी जीवो को आत्मा कर्मजनित भावो से सयुक्त ही प्रतिभासित होता है। निश्चय ही यह प्रतिभास ही ससार का बीज है अर्थात् कर्मजनित भावो को अपना मानना ही अनन्त ससार का कारण है।

पुरुषार्थसिद्धि का उपाय—

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम् ।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥

॥ १-१५-१५ ॥

अन्वयार्थ—(**विपरीताभिनिवेशं**) विपरीत श्रद्धान का (**निरस्य**) नाश करके (**निजतत्त्वम्**) निजस्वरूप को (**सम्यक्**) यथार्थ रूप से (**व्यवस्य**) जानकर (**यत्**) जो (**तस्मात्**) अपने उस स्वरूप मे से (**अविचलनं**) भ्रष्ट न होना (**स एव**) वही (**अयम्**) इस (**पुरुषार्थ-सिद्ध्युपायः**) पुरुषार्थसिद्धि का उपाय है।

अर्थ—विपरीत श्रद्धान का नाश करके, निजस्वरूप को यथार्थ-रूप से जानकर, जो अपने उस स्वरूप से भ्रष्ट न होना है, वही इस पुरुषार्थसिद्धि का उपाय है।

विशेषार्थ—पिछले श्लोक मे कहा था कि कर्मजनित पर्यायो तथा भावो को अपने रूप मानना ही ससार का मूल कारण है। यही मान्यता अथवा श्रद्धान विपरीत श्रद्धान है। ऐसी विपरीत मान्यता का जड-मूल से विनाश करना सम्यग्दर्शन है। कर्मजनित पर्यायों तथा भावो से भिन्न अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप को यथावत् जानना सम्यग्ज्ञान है और कर्मजनित पर्यायो तथा भावो से उदासीन होकर अपने शुद्धस्वरूप मे निश्चल-निष्कम्प रूप से स्थिर रहना, उससे कभी भी न छूटना सम्यक्चारित्र है। अथवा समस्त पदार्थो से भिन्न अपने शुद्धात्मस्वरूप का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, उसका ज्ञान ही सम्यग्-ज्ञान है तथा उसी शुद्धात्मस्वारूप मे निमग्न—लीन होना सम्यक्-चारित्र है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप परिणत जो आत्मा है वह निश्चय मोक्षमार्ग है। इन तीनो का समुदाय—एकरूपता ही पुरुषार्थसिद्धि अथवा आत्मस्वरूप की सिद्धि होने का उपाय है। अन्य कोई उपाय नही है।

जो इस उपाय मे लगे हुए है उनका वर्णन—

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः।।
।। १-१६-१६ ।।

अन्वयार्थ—(**एतत् पदम् अनुसरतां**) इस रत्नत्रय रूप पदवी का अनुसरण करने वाले (**मुनीनाम्**) मुनियो का (**वृत्ति**) आचरण/

परिणमन (**करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा**) पाप क्रिया मिश्रित आचारो से सर्वथा विमुख तथा (**एकान्तविरतिरूपा**) परद्रव्यो से सर्वथा उदासीन रूप और (**अलौकिकी**) अलौकिक – लोक से निराला (**भवति**) होता है।

अर्थ—इस रत्नत्रय रूप पद का अनुसरण करने वाले अर्थात् इस पद को प्राप्त मुनियो का आचरण/परिणमन, पापक्रिया मिश्रित आचारो से सर्वथा विमुख तथा परद्रव्यो से सर्वथा उदासीन रूप और अलौकिक—लोक से निराला भिन्न होता है।

विशेषार्थ– रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाले मुनिराजो का आचरण गृहस्थ लोगो से सवथा निराला और भिन्न होता है। गृहस्थ पापक्रिया मे आसक्त होते है अथवा उनका आचार पापक्रिया मिश्रित होता है। मुनिराज ऐसी क्रियाओ का चिन्तन भी नही करते तथा उनका आचरण कर्मजनित भावो से सर्वथा विमुख होता है। लोग शरीर के पोषण के अनेक उपाय करते हैं तथा उसको खूब सभाल रखते हैं, परन्तु मुनिराज अनेक प्रकार से शारीरिक परीषह उत्पन्न करके उन्हे सहन करने मे सुख मानते है। लोग इन्द्रिय विषयो मे अति आसक्त होकर उनके भोगो मे सुख मानते है, परन्तु मुनिराज उन्हे विष के समान मानते है। लोगो को जनसमुदाय— भीड तथा बस्ती अच्छी लगती है, परन्तु मुनिराज जनसपर्क से खेद मानते हैं तथा निर्जन स्थान मे वास करते है। इस प्रकार रत्नत्रय के धारक मुनिराज तो समस्त परद्रव्यो से सर्वथा उदासीन हुये निज-स्वरूप का ही अनुभव करते है। उनकी प्रत्येक क्रिया गृहस्थो से निराली होती है।

उपदेश देने का क्रम—

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ॥
॥ १-१७-१७ ॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो जीव (**बहुशः**) बारम्बार (**प्रदर्शिता**) बताने पर भी (**समस्तविरतिं**) सकलचारित्र—मुनि के महाव्रतों को (**जातु**) कदाचित् (**न गृह्णाति**) ग्रहण नही करता है तो (**तस्य**) उसे (**एकदेशविरतिः**) एकदेश चारित्र—श्रावक के अणुव्रतो का (**अनेन बीजेन**) इस हेतु से (**कथनीया**) कथन करना अर्थात् समझाना चाहिये।

अर्थ—जो जीव बारम्बार बताने पर भी सकल चारित्र—मुनि के महाव्रतो को कदाचित् ग्रहण नही करता है तो उसे एकदेश चारित्र—श्रावक के अणुव्रतो का इस हेतु से कथन करना चाहिये अर्थात् समझाना चाहिये।

विशेषार्थ—इस श्लोक मे धर्म उपदेश देने का क्रम बताया है। जो जीव उपदेश सुनने की रुचि रखता है, उसे सबसे पहले मुनिधर्म का बार-बार उपदेश देना चाहिये। बार-बार उपदेश सुनकर भी भी यदि वह सकल चारित्र—सकलपाप रहित मुनि के महाव्रतो को ग्रहण न करे तो उसे एकदेश चारित्र—पापरहित श्रावक के व्रतो का उपदेश देना चाहिये।

विपरीत क्रम से उपदेश देने की निन्दा—

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्॥
॥ १-१८-१८ ॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो (**अल्पमतिः**) तुच्छबुद्धि उपदेशक (**यतिधर्मम्**) मुनिधर्म का (**अकथयन्**) कथन न करके (**गृहस्थधर्मम्**) गृहस्थ / श्रावक धर्म का (**उपदिशति**) उपदेश देता है (**तस्य**) उस उपदेशक को (**भगवत्प्रवचने**) भगवान् के सिद्धान्त मे (**निग्रहस्थानम्**) दण्ड देने का स्थान बताया है।

अर्थ—जो तुच्छबुद्धि उपदेशक मुनिधर्म का कथन न करके, गृहस्थ / श्रावक धर्म का उपदेश देता है, उस उपदेशक को भगवान्

के सिद्धान्त मे दण्ड देने का स्थान बताया है अर्थात् वह उपदेशक दण्ड पाने योग्य है।

विशेषार्थ—जो तुच्छबुद्धि उपदेशक पिछले श्लोक मे बताये गये उपदेश के क्रम का अनुसरण न करके अर्थात् पहले मुनिधर्म का उपदेश न करके, सर्वप्रथम ही श्रावकधर्म का उपदेश देता है तो वह भगवान् के सिद्धान्त के अनुसार प्रायश्चित्त रूप दण्ड पाने योग्य है।

वह उपदेशक दण्ड पाने योग्य क्यो है—

अक्रमकथनेन यत॰ प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्य ।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ।।
।। १-१८-१८ ।।

अन्वयार्थ –(**यत**) क्योकि (**तेन**) उस (**दुर्मतिना**) दुर्बुद्धि के (**अक्रमकथनेन**) अक्रम कथन—उपदेश से (**अतिदूरम्**) अति अधिक (**प्रोत्सहमानोऽपि**) उत्साह वाला होने पर भी (**शिष्य.**) शिष्य (**अपदेऽपि**) तुच्छ स्थान मे ही (**सम्प्रतृप्त**) सन्तुष्ट होकर (**प्रतारित भवति**) ठगाया जाता है।

अर्थ क्योकि उस दुर्बुद्धि के अक्रम कथन—अक्रम उपदेश से अति अधिक उत्साह वाला होने पर भी, शिष्य तुच्छ स्थान मे ही सन्तुष्ट होकर ठगाया जाता है।

विशेषार्थ—उपदेश का क्रम भग करने वाला दण्ड का भागी क्यो है ?—किसी शिष्य के अन्तरग मे धर्म के प्रति अति उत्साह और उमग था। यदि प्रथम ही वह मुनिधर्म का उपदेश सुनता, तो हो सकता है कि वह सकलचारित्र मुनि के महाव्रतो को ही अगीकार कर लेता। परन्तु मन्दबुद्धि उपदेशक ने सर्वप्रथम ही श्रावकधर्म का उपदेश दिया, जिससे वह शिष्य ठगा गया, अर्थात् उपदेश को सुनकर शिष्य ने उत्तम मुनिधर्म की बजाय तुच्छ श्रावकधर्म को ही श्रेष्ठ मानकर अगीकार कर लिया। इस कारण उपदेशक प्रायश्चित्त दण्ड का भागी है।

पहला उत्थानिका अधिकार समाप्त हुआ।

(२) श्रावकधर्म अधिकार

श्रावक को धर्मसाधन मे क्या करना चाहिये—

एव सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम् ।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति ॥
॥ २-१-२० ॥

अन्वयार्थ—(**एव**) इस प्रकार (**तस्यापि**) उस गृहस्थ को भी (**यथाशक्ति**) अपनी शक्ति के अनुसार (**सम्यग्दर्शनबोधचरित्र-त्रयात्मक**) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन तीन भेदरूप (**मोक्षमार्गः**) मोक्षमार्ग (**नित्यम्**) सदा (**निषेव्य**·) सेवन करने योग्य (**भवति**) है।

अर्थ—इस प्रकार उस गृहस्थ को भी अपनी शक्ति के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन तीन भेदरूप मोक्ष-मार्ग का सदा सेवन करने योग्य है।

विशेषार्थ—मुनिधर्म को धारण करके तो मोक्षमार्ग का सेवन सम्पूर्ण रूप से होता है। परन्तु हर व्यक्ति मे तो मुनिधर्म पालन करने की सामर्थ्य नही हो सकती, इसलिये गृहस्थ को भी अपनी शक्ति के अनुसार मोक्षमार्ग का सेवन अवश्य करना चाहिये, क्योकि इसके अलावा अन्य कोई उपाय नही जिससे मुक्ति का मार्ग—कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सके। वह मोक्षमार्ग कैसा है—'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग'—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र —इन तीनो का समुदाय—एकरूपता ही भव्यजीवो के लिये मोक्ष का मार्ग है। भिन्न-भिन्न तीन मोक्षमार्ग नही हैं। मोक्षमार्ग तो एक ही है। रत्नत्रय मे से एक अथवा दो से मोक्षमार्ग नहीं सधता। तीनो की एकरूपता ही एकमात्र मोक्षमार्ग है। जिस प्रकार औषध के श्रद्धान,

यथार्थ ज्ञान तथा **विधिपूर्वक सेवन** से ही रोग का नाश होता है, **उसी प्रकार रत्नत्रय की एकरूपता से मोक्षमार्ग बनता है। गृहस्थ को अपने** कल्याण के लिए इनका सेवन करना चाहिये। **श्रावकधर्म पालन से मुनिधर्म-पालन** का अभ्यास होता है।

तीनो मे प्रथम किस को ग्रहण करना चाहिये—

तत्रादौ सम्यक्त्व समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञान चरित्र च ॥
॥ २-२-२१ ॥

अन्वयार्थ—(**तत्रादौ**) इन तीनो मे प्रथम (**अखिलयत्नेन**) समस्त यत्नपूर्वक। सावधानीपूर्वक (**सम्यक्त्व**) सम्यग्दर्शन को (**समुपाश्रयणीयम्**) सही प्रकार अगीकार करना चाहिये (**यतः**) क्योकि (**तस्मिन् सति एव**) उसके होने पर ही (**ज्ञान**) सम्यग्ज्ञान (**च**) और (**चरित्र**) सम्यक्चारित्र (**भवित**) होता है।

अर्थ—इन तीनो मे प्रथम समस्त यत्नपूर्वक / सावधानीपूर्वक सम्यग्दर्शन को सही प्रकार अगीकार करना चाहिये, क्योकि उसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र मे से प्रथम किसको ग्रहण करना चाहिये ? इन तीनो मे से प्रथम ही, जिस प्रकार भी बन सके सम्यग्दर्शन को ग्रहण करना चाहिये। आचार्यश्री कहते है कि यदि सम्यग्दर्शन ग्रहण करने के प्रयास मे मृत्यु भी हो जाये तो भी इसे प्राप्त करना चाहिये, क्योकि इसके बिना मोक्षमार्ग बन नही सकता। सर्वप्रथम ही सम्यग्दर्शन को क्यो प्राप्त करना चाहिये ? – क्योकि सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की सज्ञा पाते है। सम्यग्दर्शन के बिना जीव अज्ञानी और असयमी ही कहलाता है। सम्यग्दर्शन के बिना ग्यारह अग का पाठी भी अज्ञानी ही कहलाता है। महाव्रतो का पालन करके, विशुद्ध परिणामो द्वारा नवग्रैवेयक

तक जाता है फिर भी असयमी ही कहलाता है। सम्यग्दर्शन सहित थोडा सा ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान और थोडासा त्याग भी सम्यक्चारित्र है। इसलिये सर्वप्रथम ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये, ससार-सागर से पार लगाने के लिये यही एक मात्र खेवटिया है।

सम्यक्त्व का लक्षण—

जीवाजीवादीना तत्त्वार्थाना सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धान विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूप तत्॥
॥ २-३-२२ ॥

अन्वयार्थ (**जीवाजीवादीना**) जीव, अजीव आदि (**तत्त्वार्थाना**) तत्त्वार्थो का (**विपरीताभिनिवेशविविक्तम्**) विपरीत अभिनिवेश रहित (**श्रद्धान**) श्रद्धान (**सदैव**) निरन्तर ही (**कर्त्तव्यम्**) करना चाहिये, क्योकि (**तत्**) वह श्रद्धान ही (**आत्मरूप**) आत्मा का स्वरूप है।

अर्थ—जीव, अजीव आदि तत्त्वार्थो का विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धान निरन्तर ही करना चाहिये, क्योकि वह श्रद्धान ही आत्मा का स्वरूप है।

विशेषार्थ—"तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दशनम्"—तत्त्वार्थ-श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। तत्त्वार्थों का अर्थात् पदार्थों का जैसा निजभाव—स्वरूप है, उसका विपरीताभिनिवेश—सशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय (अनिर्णयात्मक) रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। पदार्थ का स्वरूप 'ऐसा ही है, यही है, अन्य नही, अन्य प्रकार नही, कम नही और ज्यादा भी नही'—ऐसा गाढ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। 'भूतार्थनय से ज्ञात (जाने हुए) जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथा आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—यह नव तत्त्व सम्यक्त्व है।' (समयसार गा० १३) अथवा 'सम्यग्दृष्टिजीव नि शक होते हैं, इसलिये निर्भय होते हैं, और क्योकि वे सप्त भयो से रहित होते हैं, इसलिये नि शक होते है।' (समयसार गा० २२८) ऐसा श्रद्धान आत्मा का स्वरूप है, निजभाव है।

तत्त्वार्थ-श्रद्धान दो प्रकार का है—एक सामान्यरूप तथा दूसरा विशेषरूप। समस्त परभावो से अलग अपने चैतन्य शुद्धस्वरूप का आपरूप से श्रद्धान करना सामान्य तत्त्वार्थश्रद्धान है, जोकि चारो गतियो के सम्यग्दृष्टि जोवो को होता है। जीव, अजीवादि सात तत्त्वो को भेदो को जानकर उनका श्रद्धान करना विशेष तत्त्वार्थ श्रद्धान है जो कि केवल मनुष्य तथा देवादि विशेष ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जोवो को होता है। तत्त्वो जाने बिना सम्यक्श्रद्धान नही हो सकता, क्योंकि जो तत्त्वो को न जाने तो श्रद्धान किसका करे? इसलिये उनका थोडा सा संक्षेप स्वरूप दिया जाता है—

(१) 'जीव तत्त्व'—'चेतनालक्षणो जीव'—जीव का लक्षण चेतना है। अर्थात् जो चेतना सहित है उसे जीव कहते हैं। शुद्ध, अशुद्ध और मिश्र के भेद से जीव तीन प्रकार हैं—

(i) 'शुद्धजीव'—जिन जोवो के सर्व गुण और पर्याय अपने निज-शुद्ध रूप परिणमन करते है अर्थात् जो केवलज्ञानादि शुद्ध गुण और पर्याय रूप परिणमन मे स्थित है उन्हे शुद्ध जीव कहते है। जैसे अरहन्त और सिद्ध। यहाँ गुण और पर्याय दोनो शुद्ध है।

(ii) 'अशुद्ध जीव'—जिन जीवो के सर्व गुण और पर्याय विकार भाव रूप परिणमन कर रहे हैं अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव जिनकी परि-णति राग-द्वेषरूप—विपरीत परिणमन कर रही है, वे जीव अशुद्ध हैं।

(iii) 'मिश्रजीव'—जिन जीवो मे सम्यक्त्व तथा ज्ञानादि गुणो की कुछ शक्ति शुद्ध है तथा शेष अभी अशुद्ध है अर्थात् जिनकी परिणति शुद्धाशुद्ध रूप परिणमन कर रही है वे मिश्र जीव है।

(२) 'अजीवतत्त्व'—जो पदार्थ चेतना गुण रहित है, जड है उसे अजीव तत्त्व कहते हैं। वह पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल के भेद से पाँच प्रकार का है।

(i) 'पुद्गल'—जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण सयुक्त है वह पुद्गल है। 'अणु' तथा 'स्कन्ध' के भेद से पुद्गल दो प्रकार का है। 'अणु' एकप्रदेशी है उसका भाग नही किया जा सकता। पुद्गल द्रव्य मूल

मे अणुरूप है और इन्द्रियातीत है। अनेक अणु मिलकर 'स्कन्ध' बनता है। जो कुछ भी देखने मे अथवा इन्द्रियों द्वारा अनुभव मे आता है वह पुद्गल की पर्याय है, संख्यात, असख्यात अथवा अनन्त अणुओं का स्कन्ध/पिंड है।

(ii) 'धर्मद्रव्य'—निष्क्रिय (गति रहित) लाकप्रमाण द्रव्य है। गतिशील जीव और पुद्गल द्रव्यों को गति करने मे उदासीन बाह्य निमित्त है। गति-स्थिति करना तो जीव की निज अन्तरग शक्ति है।

(iii) 'अधर्मद्रव्य'—यह भी निष्क्रिय लोकप्रमाण द्रव्य है। गति-पूर्वक स्थिति करने मे जीव और पुद्गल द्रव्यो को बाह्य उदासीन निमित्त है।

(iv) 'आकाश'—जो जीव पुद्गलादि समस्त द्रव्यो को अवकाश (रहने का स्थान) देने मे समर्थ है वह लोकालोक प्रमाण आकाश है। वह लोकाकाश तथा अलोकाकाश के भेद से दो प्रकार का है, परन्तु सत्तारूप एक ही द्रव्य है। जिसमे समस्त छह द्रव्यो का वास है वह 'लोकाकाश' है तथा शेष 'अलोकाकाश' है। लोकाकाश आकाश के ठीक बोचोबीच स्थित है।

(v) 'कालद्रव्य'—निश्चय और व्यवहार के भेद से काल दो प्रकार का है। अपने उपादान रूप से स्वयमेव परिणमित पदार्थों की परिणति मे जो सहकारीपना है उसे 'वर्तना' कहते है। यह वर्तना लक्षण युक्त निश्चय काल है। समय, घडी, घटा, मिनट इत्यादि व्यवहार काल है।

(३) 'आस्रव तत्त्व'- मन, वचन, काय के योगो द्वारा जीव के शुभाशुभ परिणामो के निमित्त से कर्मरूपी पुद्गल वर्गणाओ के आने को 'आस्रव' कहते हैं। पापास्रव तथा पुण्यास्रव इसके दो भेद है। शुभ परिणामो से पुण्य कर्मो का तथा अशुभ परिणामो से पाप कर्मों का आस्रव होता है।

(४) 'बन्ध तत्त्व'—जीव के शुभाशुभ परिणामो के निमित्त से आई हुई कर्मरूपी वर्गणाओ का ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप से आत्म प्रदेशो के साथ एकक्षेत्र मे स्थित होना बन्ध तत्त्व है।

(५) 'सवर तत्व'—जीव के शुभाशुभ परिणामो के अभाव से नवीन कर्म वर्गणाओ के आस्रव का रुकना सवर तत्व है।

(६) 'निर्जरा तत्व'—जीव मे बँधे हुये कर्मों का समय-समय पर एकदेश खिरना निर्जरा तत्व है। परन्तु जीव के शुद्धोपयोग के बल से पूर्व मे बँधे हुये कर्मों की सवरपूर्वक निर्जरा ही मोक्षमार्ग मे कार्यकारी है।

(७) 'मोक्ष तत्व'—कर्मों के सर्वथा नाश होने पर जीव के निजशुद्ध भाव के प्रकट होने को मोक्ष कहते हैं। यही शुद्धजीव है।

इस प्रकार तत्त्वार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन का लक्षण है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि सम्यग्दृष्टि जीव जिस समय विषय-कषायो मे तीव्रतारूप परिणमन करता है तब ऐसा श्रद्धान कैसे रह सकता है ? समाधान जीव के भाव दो प्रकार के है—एक श्रद्धान रूप और दूसरा परिणमन रूप। श्रद्धान रूप तो सम्यक्त्व का लक्षण है तथा परिणमन रूप चारित्र का लक्षण है। सम्यग्दृष्टि जीव विषय-कषाय मे परिणमन करता है परन्तु श्रद्धान मे प्रतीति यथावत् रहती है। जिस प्रकार कोई मुनीम सेठ का काम करता है। वह बाह्य मे सेठ के प्रत्येक कार्य नफा-नुकसान, दुकान-व्यापार आदि को 'मेरा-मेरा' कहता है। नफे-नुकसान मे हर्ष-विषाद भी करता है, परन्तु अन्तरग मे तो ऐसी दृढ प्रतीति है कि यह कुछ मेरा नही है। मैं इन सबसे भिन्न हूँ, ये मेरे नही हैं। मैं तो नोकर हूँ। अपनी पराधीनता को दुःख-दायक मानता है। उसी तरह सम्यग्दृष्टि जीव की भी अतरग मे ऐसी प्रतीति रहती है कि यह विषय-कषाय कर्मों की पराधीनता है, वास्तव मे मेरा स्वरूप तो इन सबसे भिन्न है। बाह्य पदार्थों को 'मेरा-मेरा' भी कहता है, इष्ट-अनिष्ट मे हर्ष-विषाद भी करता है परन्तु अन्तरग प्रतीति शक्ति रूप से यथावत् विद्यमान रहती है।

द्रव्यलिंगी मुनि जिन-कथित तत्त्वो को ही मानता है, अन्यमत के तत्त्वो को बिलकुल नहीं मानता, फिर भी उसे तत्त्व का श्रद्धान कैसे नही ? समाधान—द्रव्यलिंगी मुनि मानता तो जिन-कथित तत्त्वो को ही है, परन्तु विपरीताभिनिवेश-सहित मानता है। आस्रव-बन्ध रूप

शरीराश्रित क्रियाकाण्ड को अपना मानकर संवर-निर्जरा रूप मोक्ष का कारण मानता है। पाप से तो विरक्त है, परन्तु पुण्य को उपादेय मानता है। इसलिये उसे सच्चा तत्त्वश्रद्धान नही है।

आगे सम्यक्त्व के आठ अगो का वर्णन करते हैं--

नि.शकित अग का वर्णन—

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्त वस्तुजातमखिलज्ञं ।
किमु सत्यमसत्य वा न जातु शकेति कर्त्तव्या ॥
॥ २-४-२३ ॥

अन्वयार्थ—(**अखिलज्ञै**) सर्वज्ञ देव द्वारा (**इदम्**) यह (**सकलम्**) सारा (**वस्तुजातम्**) वस्तु-समूह—जीवादि पदार्थों का समूह (**अनेकान्तात्मकम्**) अनेकान्त स्वभावरूप (**उक्त**) कहा गया है, वह (**किमु सत्यम्**) क्या सत्य है (**असत्य वा**) अथवा असत्य है ? (**शकेति**) ऐसी शका (**जातु**) कभी भी (**न**) नही (**कर्त्तव्या**) करनी चाहिये।

अर्थ—सर्वज्ञदेव द्वारा यह सारा वस्तु-समूह अर्थात् जीवादि पदार्थों का समूह अनेकान्त स्वभाव रूप कहा गया है, वह क्या सत्य है अथवा असत्य है ? —ऐसी शका कभी नही करनी चाहिये।

विशेषार्थ वीतराग सर्वज्ञ भगवान् ने जीवादि पदार्थों का स्वरूप अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक स्वभाव वाला कहा है। उस स्वरूप का श्रद्धान दृढ और निर्णयात्मक होना चाहिये। तत्त्वार्थ-श्रद्धान इतना दृढ और निश्चयात्मक होना चाहिये कि आपत्ति-विपत्ति मे भी उसमे शका- सशय उत्पन्न नही करना चाहिये। जिनेन्द्र भगवान् का कथन अन्यथा नही हो सकता। मोह, राग, द्वेष के कारण जीव अन्यथा कथन करता है, परन्तु भगवान् तो सर्वथा वीतराग हैं, अत उनके अन्यथा कथन करने का प्रसग ही नही उठता। इस प्रकार भगवान् के वचनो मे किसी भी प्रकार की शका न करना नि शकित अग है। कहा भी है—

''तत्त्वो का सच्चा स्वरूप 'यही है', 'ऐसा ही है', 'अन्य नही है', 'अन्य प्रकार नही है'—इस प्रकार तलवार पर रखे हुये पानी के

समान सन्मार्ग—समीचीन मोक्षमार्ग मे अटल श्रद्धा न रखना ही निःशंकित अंग है।" (रत्नकरण्ड श्रा०-१६)

निश्चयनय की अपेक्षा तो –

"जो आत्मा कर्मबन्ध सम्बन्धी मोह करने वाले मिथ्यात्वादि भावरूप चारो पदो (मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग) को छेद देता है उसको निःशंकसम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।"

(समयसार-२२९)

निःकांक्षित अंग का वर्णन –

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकांक्षेत्॥
॥ २-५-२४ ॥

अन्वयार्थ –(**इह**) इस (**जन्मनि**) लोक मे (**विभवादीनि**) ऐश्वर्य, सम्पदा आदि (**अमुत्र**) परलोक मे (**चक्रित्वकेशवत्वादीन्**) चक्रवर्ती, नारायण आदि पदो को (**च**) और (**एकान्तवाददूषित-परसमयान्**) एकान्तवाद से दूषित अन्य धर्मों को (**अपि**) भी (**न आकांक्षेत्**) न चाहे।

अर्थ—इस लोक मे धन-सम्पदा आदि, परलोक मे चक्रवर्ती, नारायण आदि पदो को और एकान्तवाद से दूषित अन्य धर्मों को भी न चाहे।

विशेषार्थ—निःकांक्षित का अर्थ है वांछा—अभिलाषा रहित होना। सम्यग्दृष्टि जीव इस लोक सम्बन्धी तथा परलोक सम्बन्धी पुण्य के फल को नही चाहता है। इस जन्म मे ऐश्वर्य, धन-सम्पदा इत्यादि तथा स्त्री-पुत्रादिक की अभिलाषा नही करता तथा परलोक मे चक्रवर्ती, इन्द्र तथा नारायण आदि पद की इच्छा नही करता। वह जानता है कि ये सब कर्माधीन है, अन्तसहित अनित्य हैं। पुण्य के फलरूप इन्द्रियो के विषयो को आकुलता तथा दुःख रूप ही मानता है। एकान्तवाद के कारण दूषित जो अन्य मत हैं, उन्हे भला नही

मानता, इसलिये उनकी भी इच्छा नहीं करता। उसका लक्ष्य तो मोक्ष का अविनाशी सुख ही है। सांसारिक सुखो, इन्द्रिय विषय-भोगो इत्यादि से विरक्त होना सम्यग्दृष्टि का निःकाक्षित अग है। कहा भी है—

"जो आत्मा कर्मों के फलो के प्रति तथा सर्व धर्मों के प्रति (पाप-पुण्य रूप वस्तु के स्वभाव के प्रति) काक्षा नही रखता, उसको निष्काक्ष सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।" (समयसार-२३०)

निर्विचिकित्सा अग का वर्णन—

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥
॥ २-६-२५ ॥

अन्वयार्थ—(**क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु**) भूख, प्यास, सर्दी, गरमी इत्यादि (**नानाविधेषु**) अनेक प्रकार के (**भावेषु**) भावो मे और (**पुरीषादिषु**) विष्ठा आदि (**द्रव्येषु**) पदार्थों मे (**विचिकित्सा**) ग्लानि (**नैव**) नही (**करणीया**) करनी चाहिये।

अर्थ—भूख, प्यास, गरमी, सर्दी इत्यादि अनेक प्रकार के भावो—पर्यायो मे और विष्ठा आदि पदार्थों मे ग्लानि/नफरत नही करनी चाहिये।

विशेषार्थ निर्विचिकित्सा का अर्थ है ग्लानि/घृणा रहित होना। जिस शरीर मे आत्मा निवास करती है वह स्वभाव से ही अपवित्र है। सम्यग्दृष्टि जीव वस्तु के परिणमनशील यथार्थ स्वरूप को जानता है, इसलिये पाप के उदय से दीन, हीन, दु खी, रोगी तथा मलिन शरीर रूप भावो (पर्यायो) के सयोग होने पर उनसे घृणा नही करता, क्योकि कर्म के उदय के अधीन कार्य पर अपना वश नही है और इससे अपने अमूर्तिक आत्मा का घात भी नही होता। भूख, प्यास आदि मे अथवा विष्ठा आदि निन्द्य पदार्थों मे ग्लानि नही करता। वस्तु के परिणमनशील स्वभाव को समझते हुए द्रव्य की

किसी भी पर्याय मे ग्लानि न करना सम्यग्दृष्टि का निर्विचिकित्सा अंग है। कहा भी है—

"जो आत्मा सभी धर्मों (वस्तु के स्वभावो) के प्रति ग्लानि नही करता, उसको निश्चय से निर्विचिकित्स सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।"
(समयसार-२३१)

अमूढदृष्टि अग का वर्णन—

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥
॥ २-७-२६ ॥

अन्वयार्थ—(**तत्त्वरुचिना**) तत्त्वो मे रुचि रखने वाले जीव को (**नित्यमपि**) सदा ही (**लोके**) लोक मे (**शास्त्राभासे**) शास्त्राभास मे (**समयाभासे**) धर्माभास मे (**च**) और (**देवताभासे**) देवाभास मे (**अमूढदृष्टित्वम्**) मूढता रहित श्रद्धान (**कर्त्तव्यम्**) करना चाहिये।

अर्थ—तत्त्वो मे रुचि रखने वाले जीव को सदा ही लोक मे, शास्त्राभास मे, धर्माभास मे और देवाभास मे मूढता रहित श्रद्धान करना चाहिये।

विशेषार्थ—'दृष्टि' शब्द का अर्थ श्रद्धान है। मूर्खता रहित अथवा विवेकपूर्ण श्रद्धान को 'अमूढदृष्टि' कहते हैं। तत्त्वार्थ श्रद्धावान् पुरुष को सदा ही अमूढदृष्टि रहना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव को देखा-देखी कोई भी प्रवृत्ति नही करनी चाहिये। लोक मे किसी चमत्कार, मणि, मत्र, तत्र तथा अतिशय इत्यादि को देखकर विपरीत भावो को ग्रहण नही करना चाहिये। अन्य वादियो के कपोलकल्पित शास्त्रो मे रुचि नही करनी चाहिये। झूठे मत सच्चे सरीखे भासते हो अथवा झूठे देव सुदेव जैसे मालूम हो तो उनके धोखे मे नही आना चाहिये। यथार्थ ज्ञान से भ्रष्ट करने वाले कारणो से सदा सावधान रहना चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव गुण-दोषो का पारखी होने के कारण मन, वचन, काय, मूढ़दृष्टिपने से दूर रहता है, यही अमूढदृष्टि अग कहलाता है। निश्चयनय की अपेक्षा तो—

"जो आत्मा समस्त भावो में अमूढ है—यथार्थ दृष्टि वाला है, उसको निश्चय से अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।"

(समयसार-२३२)

उपगूहन अग का वर्णन—

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥
॥ २-८-२७ ॥

अन्वयार्थ—(**उपबृंहणगुणार्थम्**) उपबृंहण नामक गुण के लिए (**मार्दवादिभावनया**) मार्दव, क्षमा, सन्तोषादि भावनाओ से (**सदा**) प्रतिक्षण (**आत्मनो धर्मः**) आत्मधर्म की (**अभिवर्द्धनीयः**) वृद्धि करनी चाहिए और (**परदोषनिगूहनमपि**) दूसरे के दोषो को गुप्त रखना भी (**विधेयम्**) कर्त्तव्य है।

अर्थ—उपबृंहण नामक गुण के लिए मार्दव, क्षमा, सन्तोषादि भावनाओ से प्रतिक्षण आत्मधर्म की अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वभाव की वृद्धि करनी चाहिए और दूसरे के दोषो को गुप्त रखना भी कर्त्तव्य है।

विशेषार्थ 'उपबृंहण' का अर्थ है बढाना। सम्यग्दृष्टि जीवो को क्षमा, मार्दव, सन्तोषादि धर्म भावनाओ के चिन्तन के द्वारा सतत अपने आत्मा के निजशुद्ध स्वभाव को बढाना चाहिए। 'उपगूहन' का अर्थ है छुपाना। दूसरे के ज्ञात-अज्ञात दोषा को छुपाना उपगूहन कहलाता है। बाल्यावस्था अथवा रोग के कारण, या मूढ और असमर्थ-जन व्रता के पालन मे कदाचित् दोष लगाते है। ऐसे दोषो को प्रकट नही करना चाहिये क्योकि इनसे उस व्यक्ति की तथा धर्म की मान-हानि होती है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा के निजशुद्ध स्वभाव को निरन्तर बढाता है तथा दूसरे के दोषो को प्रकट नही करता यही उसका उपगूहन अग है। कहा भी है—

"जो आत्मा सिद्धो की अर्थात् शुद्धात्मा की भक्ति से युक्त है और पर वस्तुओ के सर्व धर्मों को गोपने वाला है (रागादि परभावो

से निजात्मा की रक्षा करता है, उसे छुपाता है) उसको उपगूहन करने वाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।" (समयसार-२३३)

स्थितिकरण अग का वर्णन—

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात् ।
श्रुतमात्मन. परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ।।

।। २-६-२८ ।।

अन्वयार्थ—(**कामक्रोधमदादिषु**) काम, क्रोध, मद आदि विकार (**न्यायात् वर्त्मनः**) न्याय मार्ग से (**चलयितुम्**) चलायमान करने के लिये (**उदितेषु**) प्रकट हुए हो तब (**श्रुतम्**) शास्त्र अनुसार (**आत्मन परस्य च**) अपने को और पर को (**युक्त्या**) युक्तिपूर्वक (**स्थितिकरणमपि**) धर्म मे स्थापित भी (**कार्यम्**) करना चाहिये।

अर्थ—काम, क्रोध, मद आदि विकार न्यायमार्ग धर्म मार्ग से चलायमान करने के लिये प्रकट हुए हो, तब शास्त्र अनुसार अपने को और पर को युक्तिपूर्वक धर्म मे स्थापित भी करना चाहिये।

विशेषार्थ—काम, क्रोध, मान, माया और लोभादिक कषाय रूप भावो की उत्पत्ति धर्म मार्ग से भ्रष्ट करने वाली है। अपने अथवा अन्य किसी सहधर्मी भाई के परिणाम यदि उपर्युक्त उपाधियो के अथवा किसी अन्य रोगादि के कारण से सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्-चारित्र से भ्रष्ट होते हो तो जैसे भी सभव हो, उनकी हर प्रकार से यथाशक्ति सहायता करके शास्त्र अनुसार तथा युक्तिपूर्वक पुन धर्म मार्ग मे स्थापित करना चाहिये। धर्म से भ्रष्ट जीवो को पुन धर्म मार्ग मे स्थापित करना सम्यग्दृष्टि का स्थितिकरण अग है। कहा भी है—

"जो आत्मा उन्मार्ग मे जाते हुये अपने आत्मा को भी मार्ग मे स्थापित करता है वह स्थितिकरणयुक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।"
(समयसार-२३४)

वात्सल्य अग का वर्णन—

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे ।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम् ॥
॥ २-१०-२६ ॥

अन्वयार्थ— (**शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने**) मोक्षसुख रूप सम्पदा के कारणभूत (**अहिंसायां**) अहिंसामय (**धर्मे**) धर्म मे (**च**) और (**सर्वेष्वपि**) सभी (**सधर्मिषु**) साधर्मी जनो मे (**अनवरतम्**) निरन्तर (**परमं**) उत्कृष्ट (**वात्सल्यम्**) वात्सल्य/प्रीति को (**आलम्ब्यम्**) अगीकार करना चाहिये ।

अर्थ—मोक्षसुख रूप सम्पदा के कारणभूत अहिंसामय धर्म में और सभी साधर्मी जनो मे निरन्तर उत्कृष्ट वात्सल्य/प्रीति को अंगीकार करना चाहिये ।

विशेषार्थ—गोवत्स जैसी प्रीति को वात्सल्य कहते हैं। गाय को अपने बछडे से अत्यन्त निष्काम प्रेम होता है और उसकी रक्षा के लिये वह अपने प्राण भी जोखिम मे डाल देती है। ऐसी ही गोवत्स प्रीति/वात्सल्य सम्यग्दृष्टि जीव को अपने जिनप्रणीत अहिंसामय धर्म मे सभी रत्नत्रयधारी साधुओ तथा सहधर्मी भाइयो मे तथा धर्मायतनो इत्यादि मे स्वभावत निरन्तर रखना चाहिये । सम्यग्दृष्टि जीव तन, मन, धन इत्यादि से सकट मे उनके काम आता है तथा इसमे आनन्द का अनुभव करता है। यही सम्यक्त्व का वात्सल्य अग है । निश्चयनय से तो—

"जो आत्मा मोक्षमार्ग के तीन साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मे वात्सल्य रखता है, उसे वात्सल्य से युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ।" (समयसार-२३५)

प्रभावना अग का वर्णन—

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥
॥ २-११-३० ॥

अन्वयार्थ—(**रत्नत्रयतेजसा**) रत्नत्रय के तेज से (**सततमेव**) निरन्तर (**आत्मा**) अपनी आत्मा को (**च**) और (**दानतपोजिनपूजा-विद्यातिशयैः**) दान, तप, जिनपूजन और विद्या की वृद्धि करके (**जिनधर्मः**) जिनधर्म की (**प्रभावनीय**) प्रभावना करनी चाहिये।

अर्थ रत्नत्रय के तेज से निरन्तर अपनी आत्मा को (प्रकाशित करना चाहिये) और दान, तप, जिनपूजन की और विद्या की वृद्धि करके जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिये अर्थात् जैन धर्म के यश और महिमा का प्रकाश करना चाहिये।

विशेषार्थ—प्रभावना का अर्थ है यश और महिमा को प्रकट करना/प्रकाशित करना। अपनी आत्मा को रत्नत्रय के तेज से निरन्तर प्रकाशित करना चाहिये। जैनधर्म की यश कीर्ति और महिमा को प्रचुर दान से, उग्र तप से, समारोह सहित रथयात्रा इत्यादि सहित पूजन इत्यादि करवाकर, पाठशाला-विद्यालय खोलकर तथा सरस्वती भवन इत्यादि स्थापित करके प्रकट करना चाहिये। अनादि मिथ्यात्व के कारण लोग सच्चे देव-शास्त्र-गुरु तथा जीवादि तत्त्व इत्यादि के स्वरूप को नहीं जानते। मिथ्यादृष्टि रागी-द्वेषी देव इत्यादि की आराधना/मान्यता घर-घर हो रही है। सम्यग्दृष्टि जीवों का कर्त्तव्य है कि अनादि अंधकार को दूर करके रत्नत्रय रूप सच्चे मोक्षमार्ग तथा दान, तप, जिनपूजन इत्यादि का प्रचार-प्रसार करे। यही सम्यक्त्व का प्रभावना अंग है। निश्चयनय की अपेक्षा तो—

"जो आत्मा ज्ञानरूपी रथ में आरूढ़ हुआ मनोरथ मार्ग (ज्ञान रूपी मार्ग) में भ्रमण करता है वह जिनेन्द्र भगवान् के ज्ञान की प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।"

(समयसार-२३६)

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का व्यावहारिक और निश्चय वर्णन किया। यह आठ अंग किसी जीव के सम्पूर्ण होते हैं, किसी जीव के थोड़े होते हैं। जिस प्रकार सम्पूर्ण अंग बगैर शरीर शोभा

को प्राप्त नही होता उसी प्रकार सम्यक्त्व की शोभा तो आठों अंगो को सम्पूर्णता से ही प्रकट होती है। कहा भी है—"जिस प्रकार अक्षर की मात्रा से हीन मत्र विष-वेदना को मिटाने मे असमर्थ है, उसी प्रकार अंगहीन सम्यग्दर्शन जन्म-मरण की परम्परा को नाश करने मे असमर्थ है।" (रत्नकरण्ड श्रा० २१) इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव को इन आठो अगों का पालन करना ही चाहिये।

दूसरा श्रावक धर्म अधिकार समाप्त हुआ।

(३) सम्यग्ज्ञान अधिकार ।

उचित उपाय से सम्यग्ज्ञान का सेवन करना चाहिये —

इत्याश्रितसम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन ।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः ॥
॥ ३-१-३१ ॥

अन्वयार्थ—(**इति**) इस प्रकार (**आश्रितसम्यक्त्वैः**) जिन्होने सम्यक्त्व का आश्रय लिया है—ऐसे (**आत्महितैः**) आत्मा का हित करने वाले पुरुषो को (**नित्यम्**) सदा (**आम्नाययुक्तियोगैः**) जिनागम की परम्परा एव युक्ति अर्थात् प्रमाण और नय के अनुयोग से (**निरूप्य**) विचार करके (**यत्नेन**) यत्नपूर्वक (**सम्यग्ज्ञानं**) सम्यग्ज्ञान का (**समुपास्य**) भले पकार सेवन करना चाहिये ।

अर्थ—इस प्रकार जिन्होने सम्यक्त्व का आश्रय लिया है—ऐसे आत्मा का हित करने वाले पुरुषो को सदा जिनागम की परम्परा एव युक्ति अर्थात् प्रमाण और नय के अनुयोग से विचार करके यत्नपूर्वक सम्यग्ज्ञान का भले प्रकार सेवन करना चाहिये ।

विशेषार्थ—जिन जीवो को सौभाग्य से सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है, उन धर्मात्मा जीवो को अपने आत्मा का हित करने के लिये निरन्तर यत्नपूर्वक सम्यग्ज्ञान का सेवन करना चाहिये । "प्रमाण-नयैरधिगम"—पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्रमाण और नय से ही होता है । जो पदार्थ का स्वरूप जिनागम और आचार्यों की परम्परा से मिलता हो उसको प्रमाण और नय से सम्यक् रूप से जानना ही सम्यग्ज्ञान का सेवन है । प्रमाण और नय का सक्षिप्त वर्णन—

प्रमाण

'प्रमाण'—जो ज्ञान अखण्ड वस्तु को विषय करे उसे प्रमाणज्ञान कहते हैं । सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है । प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्षप्रमाण

के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है। प्रत्यक्षप्रमाण के भी दो भेद हैं— एक पारमार्थिक प्रत्यक्ष तथा दूसरा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं—एक एकदेशपारमार्थिक प्रत्यक्ष तथा दूसरा सकलपारमार्थिक प्रत्यक्ष। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'पारमार्थिक प्रत्यक्ष'—जो ज्ञान केवल आत्मा के ही अधीन होकर जितना अपना विषय है उसे उतनी ही विशुद्धता से स्पष्ट रूप से जाने।

'एकदेशपारमार्थिक प्रत्यक्ष'—जो ज्ञान केवल रूपी पदार्थों को विना किसी की सहायता से स्पष्ट जाने। जैसे मन पर्ययज्ञान तथा अवधिज्ञान।

'सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष'—जो ज्ञान केवल आत्मा के आधीन होकर तीनो लोक के समस्त चराचर तथा रूपी-अरूपी पदार्थों को उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायो सहित विशुद्ध और स्पष्ट रूप से जानता है—जैसे केवलज्ञान।

'साव्यवहारिक प्रत्यक्ष'—जो ज्ञान नेत्रादि इन्द्रियो तथा मन की सहायता से पदार्थों को एकदेश प्रत्यक्ष ग्रहण करे। परमार्थ दृष्टि से यह ज्ञान परोक्ष ही है परन्तु व्यवहार दृष्टि से इसे प्रत्यक्ष कहा गया है क्योकि यह ज्ञान सर्वथा स्पष्ट नही होता। जैसे किसी वस्तु को नेत्र से देखने पर ज्ञान हुआ कि वस्तु सफेद है, परन्तु उसमे जो मलिनता का अश है वह स्पष्ट नही दिखता, अत यह ज्ञान व्यवहार से प्रत्यक्ष है, वास्तव मे परोक्ष है।

(१) 'परोक्षप्रमाण'—जो ज्ञान पराधीन है अर्थात् मन, इन्द्रियो, प्रकाश और उपदेश आदि की सहायता से अपने विषय को जानता तो है परन्तु स्पष्ट रूप से नही जानता। इसके पाँच भेद है—(१) स्मृति, (२) प्रत्यभिज्ञान, (३) तर्क, (४) अनुमान और (५) आगम।

(1) 'स्मृति'—पहले कभी जिस पदार्थ को जाना था, उसे ही याद करके कालान्तर मे जान लेने को स्मृति ज्ञान कहते हैं।

(ii) प्रत्यभिज्ञान'—स्मृति और प्रत्यक्ष विषयभूत पदार्थ को साथ जोड़कर जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते है। जैसे—यह वही मनुष्य है जिसे देहली मे देखा था, अथवा यह वही नील गाय है जिसके बारे मे सुना था। यहा स्मृति और प्रत्यक्ष पदार्थ के जोड से ज्ञान हुआ।

(iii) 'तर्क'—अविनाभावी सम्बन्धी व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते है। जैसे—जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है और जहाँ-जहाँ अग्नि नही, वहाँ धूम भी नही। यहाँ तर्क से यह ज्ञान हुआ कि धूम है तो अग्नि अवश्य होनी चाहिये।

(iv) 'अनुमान'– किसी लक्षण को देखकर पदार्थ के निश्चय को अनुमान कहते हैं। जैसे कही धुआ निकलता देखकर यह निश्चय करना कि यहाँ अग्नि है।

(v) 'आगम'—आप्त (सर्वज्ञदेव) के वचन के निमित्त मे पदार्थ के जानने को आगम ज्ञान कहते हैं। जैसे शास्त्रो से तत्त्वार्थों इत्यादि का जानना।

नय

'नय' जो ज्ञान वस्तु के एकदेश को विषय करे उसे नयज्ञान कहते है। अथवा प्रमाणज्ञान से जाने हुये पदार्थ के एक धर्म को मुख्यता से जो ग्रहण कराये उसे नय कहते है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से नय दो प्रकार का है—

(१) 'द्रव्यार्थिकनय'—जो द्रव्य को मुख्यरूप से—सामान्यरूप से ग्रहण करे उसे द्रव्यार्थिकनय कहते है। उसके तीन भेद है।—नैगमनय, सग्रहनय तथा व्यवहारनय।

(i) 'नैगमनय'—सकल्पमात्र से जानने को नैगमनय कहते है। अथवा दो पदार्थों मे से एक को गौण और दूसरे को मुख्य करके भेद अथवा अभेद को विषय करने वाला ज्ञान नैगमनय है। जैसे रसोई मे कोई चावल चुगता था। किसी व्यक्ति ने पूछा 'क्या कर

रहे हो ? उत्तर मिला 'भात बना रहा हूँ।' यहाँ चावल और भात को अभेद लिया गया तथा चावल में भात का संकल्प किया गया है।

(ii) 'संग्रहनय' - अपनी जाति का विरोध नहीं करके, सामान्य रूप से पदार्थ के ग्रहण को संग्रहनय कहते हैं। जैसे 'जीव' कहने से चारो गति तथा पाँचो जाति के जीवो का संग्रह होता है।

(iii) 'व्यवहारनय'—जो संग्रहनय से ग्रहण किये हुये पदार्थ का विशेष- भेद करे उसे व्यवहारनय कहते हैं। जैसे जीव के नर-नारकादि गति की अपेक्षा अथवा एकेन्द्रिय आदि जाति की अपेक्षा भेद करना।

(२) 'पर्यायार्थिकनय' जो नय द्रव्य के स्वरूप को गौण करके पर्याय को अथवा गुण को ग्रहण करे उसे पर्यायार्थिकनय कहते है। इसके चार भेद है (i) ऋजुसूत्रनय, (ii) शब्दनय, (iii) समभिरूढनय तथा (iv) एवं भूतनय।

(i) 'ऋजुसूत्रनय'—जो भूतकाल तथा भविष्यत्काल की अपेक्षा न करके, केवल वर्तमान की पर्याय मात्र को ग्रहण करता है उसे ऋजुसूत्रनय कहते है। जैसे—जीव की वर्तमान पर्याय को मनुष्य-देव इत्यादि कहना।

(ii) 'शब्दनय' व्याकरणादि द्वारा शब्द के लिंग इत्यादि के भेद से जो पदार्थ को भेदरूप ग्रहण करे वह शब्दनय है। जैसे—दारा, भार्या, कलत्र। यह तीनो भिन्न लिंग के शब्द एक ही स्त्री पदार्थ के वाचक हैं, परन्तु शब्दनय स्त्री पदार्थ को लिंग की भिन्नता के अनुसार तीन भेद रूप ग्रहण करता है।

(iii) 'समभिरूढनय'—जहाँ शब्द नाना पदार्थों को गौण करके एक ही अर्थ मे रूढ होता है उसे समभिरूढनय कहते है। जैसे 'गौ' शब्द के कई अर्थ हैं, उन सबको गौण करके 'गाय' के अर्थ मे रूढ करना।

(iv) 'एवंभूतनय'—जिस शब्द का जिस क्रियारूप अर्थ है, जब वह पदार्थ उस क्रियारूप परिणमे तभी उस रूप ग्रहण करना एवंभूत-

नय कहलाता है। जैसे जिस समय पुजारी पूजा कर रहा है, उसी समय उसे पुजारी कहना, अन्य समय / अवस्था मे पुजारी न मानना।

इस प्रकार प्रमाण और सात नयो का सक्षिप्त वर्णन किया गया। प्रमाण और नय के सयोग को 'युक्ति' कहते हैं। प्रमाण और नय से विचारे विना पदार्थ का यथार्थ ज्ञान नही होता। अत सम्यग्दृष्टि जीव को इनके द्वारा जिनेन्द्र-कथित पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जानने योग्य है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान मे अन्तर -

पृथगाराधनमिष्ट दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्व सम्भवत्यनयो ॥
॥ ३-२-३२ ॥

अन्वयार्थ—(**दर्शनसहभाविनोऽपि**) सम्यग्दर्शन के साथ उत्पन्न होने पर भी (**बोधस्य**) सम्यग्ज्ञान का (**पृथगाराधनम्**) जुदा ही आराधन करना (**इष्ट**) कल्याणकारी है (**यतः**) क्योंकि (**अनयो**) इन दोनो मे (**लक्षणभेदेन**) लक्षण के भेद से (**नानात्व**) भिन्नता (**सभवति**) सभव होती है।

अर्थ—सम्यग्दर्शन के साथ उत्पन्न होने पर भी सम्यग्ज्ञान का जुदा ही आराधन करना कल्याणकारी है, क्योंकि इन दोनो मे अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान मे लक्षण के भेद से भिन्नता सभव है।

विशेषार्थ—श्रद्धा और ज्ञान आत्मा के गुण है जो सदा विद्यमान रहते है। परन्तु सविकारी होने से मिथ्याश्रद्धान और मिथ्याज्ञान की सज्ञा पाते हैं। मिथ्यात्व दूर होकर जिस समय आत्मा मे सम्यग्दर्शन प्रकट होता है, उसी समय कुमति तथा कुश्रुत ज्ञान सम्यक्ज्ञान होकर मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान की सज्ञा पाते हैं, फिर भी सम्यग्ज्ञान की जुदा रूप से आराधना करनी चाहिये। क्योंकि उनके लक्षण पृथक्-पृथक् हैं। 'सम्यग्दर्शन' का लक्षण यथार्थ श्रद्धान तथा 'सम्यग्ज्ञान' का लक्षण यथार्थ ज्ञान है। लक्षण की अपेक्षा दोनो को जुदा-जुदा कहा है।

सम्यक्त्व के बाद ज्ञान कहने का कारण—

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥
॥ ३-३-३३ ॥

अन्वयार्थ—(**जिना**) जिनेन्द्र भगवान् (**सम्यग्ज्ञानं**) सम्यग्ज्ञान को (**कार्यं**) कार्य और (**सम्यक्त्वं**) सम्यक्त्व को—सम्यग्दर्शन को (**कारण**) कारण (**वदन्ति**) कहते हैं (**तस्मात्**) इसलिये (**सम्यक्त्वानन्तर**) सम्यक्त्व के बाद ही (**ज्ञानाराधनम्**) ज्ञान की आराधना करना (**इष्ट**) योग्य है।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् सम्यग्ज्ञान को कार्य और सम्यक्त्व अर्थात् सम्यग्दर्शन को कारण कहते है, इसलिये सम्यक्त्व के बाद ही ज्ञान की आराधना करना योग्य है।

विशेषार्थ—यद्यपि मतिज्ञान-श्रुतज्ञान आत्मा मे विद्यमान थे तथा पदार्थों को जानते थे, परन्तु सम्यक्त्व के अभाव मे उन्हे कुमति और कुश्रुत कहा जाता था। जिस समय सम्यक्त्व प्रकट हुआ, उसी समय मे यह ज्ञान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रूप जाने गये। इससे सिद्ध है कि सम्यक्त्व प्राप्त होने के पश्चात् ही 'ज्ञान' को सम्यग्ज्ञान कहा गया। इसलिये सम्यक्त्व को 'कारण' और सम्यग्ज्ञान को 'कार्य' कहा गया है, क्योकि कार्य कारणपूर्वक ही होता है। इसलिये सम्यक्त्व के बाद ही ज्ञान की आराधना करने योग्य हैं।

कारण-कार्यत्व किस तरह सभव—

कारणकार्यविधान समकाल जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥
॥ ३-४-३४ ॥

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय ही (**सम्यक्त्वज्ञानयो.**) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनो (**समकालं**) एक साथ (**जायमानोः अपि**) उत्पन्न होने पर भी (**दीपप्रकाशयो.**) दीपक और प्रकाश की (**इव**)

तरह उनमे (**कारणकार्यविधानं**) कारण और कार्य की विधि (**सुघटम्**) अच्छी तरह घटित होती है।

अर्थ—निश्चय ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनो एक साथ उत्पन्न होने पर भी दीपक और प्रकाश की तरह उनमे कारण और कार्य की विधि अच्छी तरह घटित होती है।

विशेषार्थ—जबकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आत्मा मे एक ही समय प्रकट होते हैं तब उनमे कारण-कार्य कैसे सभव है? इसी का समाधान दीपक और प्रकाश के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते है। यद्यपि दीपक का जलना और प्रकाश का होना एक ही समय मे होता है, परन्तु दीपक का जलना हो प्रकाश का कारण है। यदि दीपक न जले तो प्रकाश का अभाव ही रहेगा। इसी तरह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होते तो है एक ही समय मे, परन्तु सम्यक्त्व होने से ही ज्ञान 'सम्यग्ज्ञान' कहलाता है, अत इनमे कारण-कार्य भाव भली प्रकार सिद्ध होता है।

सम्यग्ज्ञान का लक्षण

कर्त्तव्योऽध्यवसाय सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
सशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूप तत्॥
॥ ३-५-३५ ॥

अन्वयार्थ—(**सदनेकान्तात्मकेषु**) प्रशस्त अनेकान्तात्मक (**तत्त्वेषु**) पदार्थों मे (**अध्यवसाय**) ज्ञानपूर्वक निर्णय (**कर्त्तव्य**) करना योग्य है और (**सशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तम्**) सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित (**तत्**) वह सम्यग्ज्ञान (**आत्मरूप**) आत्मा का निजस्वरूप है।

अर्थ—प्रशस्त अनेकान्तात्मक अर्थात् अनेक धर्म या स्वभाव वाले पदार्थों मे ज्ञानपूर्वक निर्णय करना योग्य है और संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित वह सम्यग्ज्ञान आत्मा का निजस्वरूप है।

विशेषार्थ पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने का नाम 'सम्यग्-ज्ञान' है। पदार्थ अनेकान्त रूप अर्थात् अनेक गुण, धर्म और पर्यायो

वाले हैं। इन गुण-पर्यायों का सच्चा निर्दोष ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। यह ज्ञान आत्मा का स्वरूप ही है अन्य कोई वस्तु नही। पदार्थ के स्वरूप का संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय दोष रहित जानना ही सम्यज्ञान का लक्षण है। सशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय का खुलासा—

'संशय'—विरुद्ध दोतरफा ज्ञान को सशय ज्ञान कहते है। जैसे—नरक, स्वर्ग और मोक्ष है, या नहीं हैं ? पदार्थ नित्य-अनित्य अनेकान्तात्मक है या नही ?

'विपर्यय'—वस्तु के स्वरूप से अन्यथा रूप विपरीत ज्ञान को विपर्यय ज्ञान कहते है। जैसे—आत्मा को दर्शन-ज्ञान इत्यादि रहित मानना।

'अनध्यवसाय'—पदार्थ के निर्णयात्मक/निश्चयात्मक स्वरूप को जानने की इच्छा के अभाव मे 'कुछ होगा'—ऐसे अनिश्चित ज्ञान को अनध्यवसाय कहते है।

उपर्युक्त तीनो दोषो से रहित मोक्ष के प्रयोजनभूत पदार्थों के यथार्थ ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहते है।

मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के ज्ञान मे क्या अन्तर है ? समाधान—दोनो के देखने-जानने मे विशेष अन्तर है। मिथ्यादृष्टि उन्मत्त पुरुष के समान कदाचित् असत् को सत् अथवा सत् को असत् मानता है। वह पदार्थों के स्वरूप, कारण तथा भेदाभेद का ठीक निर्णय नही कर सकता। इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि का ज्ञान वस्तु स्वरूप को जैसा का तैसा देखता-जानता है।

सम्यग्ज्ञान के आठ अग—

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम्॥
॥ ३-६-३६ ॥

अन्वयार्थ—(**ग्रन्थार्थोभयपूर्णं**) ग्रन्थरूप, अर्थरूप और उभयरूप अर्थात् शब्दरूप, अर्थरूप तथा शब्दअर्थरूप शुद्धता से परिपूर्ण (**काले**) काल मे अर्थात् अध्ययनकाल मे आराधन करने योग्य (**विनयेन**) मन, वचन और काय की शुद्धता रूप (**च**) और (**सोपधान**) धारणा-युक्त (**बहुमानेन**) अत्यन्त सन्मान से अर्थात् देव, शास्त्र, गुरु के वन्दन, नमस्कारादि (**समन्वितम्**) सहित तथा (**अनिह्नव**) विद्या-गुरु को छिपाये बिना (**ज्ञानम्**) ज्ञान की (**आराध्य**) आराधना करना योग्य है।

अर्थ—ग्रन्थरूप, अर्थरूप और उभयरूप अर्थात शब्दरूप, अर्थरूप और शब्दअर्थरूप शुद्धता से परिपूर्ण काल मे अर्थात् अध्ययन काल मे आराधन करने योग्य मन, वचन, काय की शुद्धतारूप विनय और धारणायुक्त, अत्यन्त सन्मान मे अर्थात् देव, शास्त्र, गुरु के वन्दन, नमस्कार आदि सहित तथा विद्यागुरु के छिपाये बिना ज्ञान की आराधना करना योग्य है।

विशेषार्थ इस श्लोक मे आचार्यश्री ने शास्त्रो के स्वाध्याय के कुछ नियमो का उल्लेख किया है। शास्त्र पढने वाले को शब्दरूप ग्रन्थ का, उसके अर्थ का या ग्रन्थ और अर्थ दोनो का यथासमय, विनयपूर्वक, मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक, धारणायुक्त, अपने गुरु का नाम छिपाये बिना तथा देव, शास्त्र, गुरू के वन्दनपूर्वक सम्यग्-ज्ञान की आराधना करनी चाहिये--शास्त्रो का अध्ययन करना चाहिये। आराधना के आठ अग निम्न प्रकार हैं—

(१) 'व्यजनाचार' –ग्रन्थ के अक्षर, पद वाक्य का यत्नपूर्वक शुद्ध उच्चारण करना व्यजनाचार है।

(२) 'अर्थाचार' –ग्रन्थ के शब्दो के शुद्ध अर्थ को यथार्थ रूप से समझना अर्थाचार है।

(३) 'उभयाचार'—ग्रन्थ के शब्द तथा अर्थ दोनो को शुद्ध रूप मे जानना अथवा पठन करना उभयाचार है।

(४) 'कालाचार'—उचित काल मे स्वाध्याय करना कालाचार है। सूर्योदय, सूर्यास्त, मध्याह्न और मध्यरात्रि –इनके पहले तथा

पीछे का दो घडी काल सन्ध्याकाल कहलाता है। इसको छोडकर शेष समय मे ग्रन्थो का स्वाध्याय योग्य है। इसी को कालाचार कँहते हैं। चारो सन्ध्याकालो के समय, दिग्दाह (आग लगने पर) उल्का-पात (तारा टूटना), वज्रपात (बिजली गिरना), इन्द्रधनुष, सूर्य-चन्द्र ग्रहण, तूफान, भूकम्प आदि उत्पातो के काल मे सिद्धान्त ग्रन्थो का पठन-पाठन नही करना चाहिये। स्तोत्र तथा धर्मकथा आदि पढ सकते है।

(५) 'विनयाचार'—शुद्ध जल से हाथ-पाँव धोकर, शास्त्र को उच्चस्थान मे विराजमान करके नमस्कारपूर्वक पढने को विनयाचार कहते है।

(६) 'उपधानाचार'—मन लगाकर ध्यानपूर्वक शास्त्र पढने अथवा सुनने को उपधानाचार कहते हैं।

(७) 'अनिह्नवाचार' - जिस शास्त्र से अथवा जिस गुरू से ज्ञान प्राप्त हुआ है उसके नाम को न छिपाना अनिह्नवाचार है।

(८) 'बहुमानाचार'—शास्त्र का तथा पढाने वाले गुरू का यथा-योग्य सम्मान बहुमानाचार है।

तीसरा सम्यग्ज्ञान अधिकार समाप्त हुआ।

(४) सम्यक्चारित्र अधिकार

सम्यग्दर्शन-ज्ञान के पश्चात् सम्यक्चारित्र ग्रहण करना चाहिये

विगलितदर्शनमोहै समञ्जसज्ञानविदितत्त्वार्थै ।
नित्यमपि नि प्रकम्पै· सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम् ।।
।। ४-१-३७ ।।

अन्वयार्थ—(**विगलितदर्शनमोहै**) जिन्होने दर्शनमोह का नाश कर दिया है (**समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थै**) सम्यग्ज्ञान से जिन्होने तत्त्वो के यथार्थ स्वरूप को जाना है और (**नित्यमपि नि प्रकम्पै**) जो सदाकाल अकम्प - दृढचित्त वाले हैं—ऐसे पुरुषो द्वारा (**सम्यक्-चारित्रम्**) सम्यक्चारित्र (**आलम्ब्यम्**) अगीकार करने योग्य है।

अर्थ—जिन्होने दर्शनमोह का नाश कर दिया है, सम्यग्ज्ञान से जिन्होने तत्त्वो का यथार्थ स्वरूप जाना है और जो सदाकाल अकम्प - दृढचित्त वाले है—ऐसे पुरुषो द्वारा सम्यक्चारित्र अगीकार करने योग्य है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति मात्र से जीव को सन्तुष्ट नही हो जाना चाहिये, क्योकि चारित्र अपनाये विना आत्मकल्याण नही हो सकता। इसलिये आचार्यश्री सम्यग्दृष्टि जीवो को सम्यक्चारित्र ग्रहण करने की प्रेरणा दे रहे है। जैसे औषधि की जानकारी तथा श्रद्धान मात्र से रोगी का रोग दूर नही कर सकते, इसके लिये औषधि का सेवन करना भी अनिवार्य है, उसी प्रकार जिन्होने दर्शनमोहनीय कर्म का नाश करके सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है तथा सम्यग्ज्ञान द्वारा तत्त्वो के यथार्थ स्वरूप को जाना है— ऐसे निष्कम्प चित्त वाले जीवो को सच्चे सुख (मोक्ष) की प्राप्ति के लिये सम्यक्चारित्र ग्रहण करना अनिवार्य है। रत्नत्रय की एकता ही मोक्षमार्ग है।

सम्यग्ज्ञान के पश्चात् ही सम्यक्चारित्र क्यों ग्रहण करें—

न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते ।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥
॥ ४-२-३८ ॥

अन्वयार्थ—(**अज्ञानपूर्वकं चारित्रम्**) अज्ञानभाव सहित चारित्र (**सम्यग्व्यपदेशं**) सम्यक् नाम को (**न हि लभते**) नही पाता (**तस्मात्**) इसलिये (**ज्ञानानन्तरम्**) सम्यग्ज्ञान के पश्चात् ही (**चारित्राराधनं**) चारित्र की आराधना (**उक्तम्**) कही गई है।

अर्थ—अज्ञानभाव सहित चारित्र सम्यक् नाम को नही पाता, इसलिये सम्यग्ज्ञान के पश्चात् ही चारित्र की आराधना कही गई है।

विशेषार्थ—जिस प्रकार सम्यग्दर्शन के विना ज्ञान 'सम्यग्ज्ञान' नही कहलाता, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान के विना चारित्र भी 'सम्यक्-चारित्र' नही कहलाता, अत सम्यग्ज्ञान-पूर्वक ही चारित्र की आराधना करने का आचार्यश्री ने उपदेश दिया है। सम्यग्ज्ञान हुये विना पापक्रिया के त्यागरूप चारित्र का ग्रहण करना सम्यक्चारित्र न होकर मिथ्याचारित्र ही कहलाता है। जब तक तत्त्वार्थ इत्यादि का यथार्थ ज्ञान न हो, तब तक मोक्षमार्ग का आचरण करना संभव नही है। अगर कोई अज्ञानवश किसी गलत औषधि का सेवन करे तो रोगी मरण को ही प्राप्त होगा, उसी प्रकार अगर कोई सम्यग्ज्ञान विना चारित्र धारण करे तो ससार की वृद्धि ही होगी। अथवा जैसे मृत शरीर मे इन्द्रियाँ निष्प्रयोजन है, वैसे ही विना सम्यग्ज्ञान के शरीराश्रित वेष तथा क्रियाकाण्डसाधन, शुद्धोपयोग रूपी सम्यक्चारित्र की प्राप्ति मे निष्प्रयोजन हैं—कार्यकारी नही है। इसलिये सम्यग्ज्ञान-पूर्वक ही चारित्र धारण करना चाहिये, क्योकि वही सम्यक्चारित्र कहलाता है तथा मोक्षमार्ग मे प्रयोजनभूत है।

चारित्र का लक्षण—

चारित्रं भवति यत: समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥
॥ ४-३-३९ ॥

अन्वयार्थ—(**यतः**) क्योकि (**तत्**) वह (**चारित्रं**) सम्यक्-चारित्र (**समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्**) मन, वचन, काय के समस्त पापमय योगो के त्याग से (**सकलकषायविमुक्त**) सम्पूर्ण कषाय रहित है (**विशदम्**) निर्मल है (**उदासीनम्**) परपदार्थों से विरक्त है और (**आत्मरूप**) आत्मस्वरूप (**भवति**) होता है।

अर्थ—क्योकि वह सम्यक्चारित्र मन, वचन, काय के समस्त पापमय योगो के त्याग से सम्पूर्ण कषाय रहित है, निर्मल है, पर-पदार्थों से विरक्ति रूप/उदासीनतारूप और आत्मस्वरूप होता है।

विशेषार्थ—मन, वचन, काय सम्बन्धी समस्त पापमय योगो के परित्याग से सम्यक्चारित्र होता है। वह चारित्र समस्त कषायो से रहित है, परद्रव्यो से उदासीनता रूप है तथा निर्मल वीतराग आत्मा का स्वरूप है, वही सदाकाल रहने वाला है। समस्त कषायो के सर्वथा अभाव मे होने वाला चारित्र यथाख्यात चारित्र है अर्थात् जैसा आत्मा का शुद्ध स्वरूप है वैसा ही चारित्र प्रकट हुआ है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि शुभराग अथवा शुभोपयोग सम्यक्चारित्र है या नही ? समाधान आत्म परिणामो की विशुद्धता के कारण कषाये मन्द होती है। कषायो की मन्दता के कारण शुभोपयोग होता है। इसलिए कषायो की मन्दता के कारण शुभोपयोग भी कथचित् चारित्र कह-लाता है।

देव, शास्त्र, गुरु, शील, तप, सयमादिक मे होने वाली अत्यन्त शुभराग रूप प्रवृत्ति भी क्रोध, मान, माया के अभाव मे तथा विषय-कषायादि के राग का अभाव होने के कारण मन्द कषाय ही है। शुभ-राग रूप अथवा प्रीति भाव रूप लोभकषाय है, परन्तु वह भी ससारी प्रयोजनो से रहित है, अत उसकी भी मन्दता है। ज्ञानी जीव राग भावो से प्रेरित होकर, अशुभ रागो को छोडकर शुभराग रूप प्रवृत्त होता है, परन्तु शुभभावो को उपादेय नही मानता, अपने शुद्धोपयोग की अपेक्षा मलिनता ही मानता है। इसलिए उसकी शुभराग रूप प्रवृत्ति को कथचित् चारित्र कह सकते है।

चारित्र के भेद—

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।
कात्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥

॥ ४-४-४० ॥

अन्वयार्थ—(**हिंसात**) हिंसा से (**अनृतवचनात्**) असत्य वचनो से (**स्तेयात्**) चोरी से (**अब्रह्मत**) कुशील से और (**परिग्रहतः**) परिग्रह से (**कार्त्स्न्यैकदेशविरते**) सर्वदेश और एकदेश विरक्त होने से वह (**चारित्र**) सम्यक्चारित्र (**द्विविधम्**) दो प्रकार का (**जायते**) होता है ।

अर्थ—हिंसा से, असत्य वचनो से, चोरी से, कुशील से और परिग्रह से सर्वदेश और एकदेश विरक्त होने से वह सम्यक्चारित्र दो प्रकार का होता है ।

विशेषार्थ-सम्यक्चारित्र के दो भेद है—एक सर्वदेश—पचमहाव्रत रूप तथा दूसरा एकदेश पचाणुव्रत रूप । हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पाँच पापो के सर्वथा त्याग से पचमहाव्रत अथवा सर्वदेश सकल चारित्र होता है तथा एकदेश त्याग से एकदेश अथवा पचाणुव्रत रूप चारित्र होता है ।

इन दोनो प्रकार के चारित्रो के स्वामी—

निरत कार्त्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥

॥ ४-५-४१ ॥

अन्वयार्थ—(**कार्त्स्न्यनिवृत्तौ**) सकल—सर्वदेश त्याग मे (**निरतः**) लीन (**अयं यतिः**) यह मुनि (**समयसारभूत**) शुद्धोपयोगरूप शुद्धात्म स्वरूप मे आचरण करने वाला (**भवति**) होता है । (**या तु एकदेश-विरतिः**) और जो एकदेश त्याग है (**तस्याम्**) उसमे (**निरतः**) लगा हुआ है वह (**उपासक.**) उपासक (**भवति**) होता है ।

अर्थ—सकल—सर्वदेश त्याग मे लीन यह मुनि शुद्धोपयोग रूप शुद्धात्म स्वरूप में आचरण करने वाला होता है। और जो एकदेश त्याग है, उसमे लगा हुआ है वह उपासक/श्रावक होता है।

विशेषार्थ—जो हिंसादि पाँच पापो के सकल सर्वदेश/सर्वथा त्याग मे लगा हुआ है, पचमहाव्रत धारण करता है उसे 'मुनि' कहते हैं। मुनि तो शुद्धोपयोग स्वरूप ही होता है, अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप मे आचरण करने वाला होता है। शुभोपयोग रूप भावो को वह मुनिपद मे मलिनता रूप ही मानता है। जो पाँच पापो के एकदेश रूप त्याग मे लगा हुआ पचाणुव्रत ग्रहण करता है उसे श्रावक/उपासक कहते है। इस प्रकार सकल चारित्र का स्वामी तो मुनि है तथा देशचारित्र का स्वामी श्रावक है।

पाँच पाप एक हिसा स्वरूप ही है—

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृत शिष्यबोधाय ॥
॥४-६-४२॥

अन्वयार्थ—(**आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्**) आत्मा के शुद्धोपयोग रूप परिणाम के घात होने के कारण (**एतत्सर्वम्**) यह सब (**हिंसा एव**) हिंसा ही हैं (**अनृतवचनादि**) असत्य वचन आदि के भेद तो (**केवलम्**) केवल (**शिष्यबोधाय**) शिष्यो को समझाने के लिये (**उदाहृत**) उदाहरण रूप कहे गये हैं।

अर्थ—आत्मा के शुद्धोपयोग रूप परिणाम के घात होने के कारण, यह सब हिंसा ही हैं। असत्यवचन आदि के भेद तो केवल शिष्यो को समझाने के लिए उदाहरण रूप कहे गये है।

विशेषार्थ—झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह - ये चारो पाप हिंसा मे ही गर्भित है, क्योकि इनमे भी हिंसा के पाप के समान आत्मा के शुद्धोपयोग रूप निज शुद्धात्म स्वभाव का घात होता है। इसलिये

पाँचो पाप मूल हिंसा के ही भेद हैं। जो शिष्य हिंसा के भेद-प्रभेद नही जानते, उनको समझाने के लिये झूठ, चोरी आदि का उदाहरण दिया गया है। हिंसा के त्याग मे ही झूठ, चोरी इत्यादि का स्वय त्याग हो जाता है। अत ये सब हिंसा ही हैं।

हिंसा का स्वरूप—

यत्खलु कषायोगात्प्राणाना द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करण सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥

॥४-७-४३॥

अन्वयार्थ—(**कषाययोगात्**) कषाय रूप परिणत मन, वचन, काय के योगो से (**द्रव्यभावरूपाणाम्**) द्रव्य और भाव रूप दो प्रकार के (**प्राणानां**) प्राणो का (**यत्**) जो (**व्यपरोपणस्य करण**) घात करना है (**सा**) वह (**खलु**) निश्चय ही (**सुनिश्चिता**) भली प्रकार निश्चित की गई (**हिंसा**) हिंसा (**भवति**) है।

अर्थ—कषाय रूप परिणत मन, वचन, काय के योगो से द्रव्य और भावरूप दो प्रकार के प्राणो का जो घात करना है, वह निश्चय ही भली प्रकार निश्चित की गई हिंसा है।

विशेषार्थ—'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोण हिंसा'—प्रमत्तयोग से प्राणो का विनाश करना हिंसा है। अर्थात् कषाय युक्त मन, वचन, काय को परणति द्वारा अपने अथवा दूसरे के प्राणो का वियोग करना हिंसा है। हिंसा के दो भेद हैं—एक भावप्राणहिंसा तथा दूसरा द्रव्यप्राणहिंसा। जब किसी जीव के मन मे, वचन मे या शरीर मे क्रोध आदि कषाय उत्पन्न होती है तो सबसे पहले अपने शुद्धोपयोग रूप शुद्धात्म स्वरूप का घात होता है, इसी को भावप्राणहिंसा कहते है। पश्चात् यदि कषाय की तीव्रता से अपने हाथ पैर इत्यादि से अपने अगो को कष्ट पहुचाये या आत्मघात करके मर जाये तो अपने ही द्रव्यप्राणो का घात होता है, इसी को द्रव्यप्राणहिंसा कहते हैं।

अथवा यदि कषाय योग मे किसी अन्य जीव को कुवचन कहा, या ऐसा कोई कार्य किया जिससे उसका अन्तरग पीडित होकर कषाय रूप परिणाम हो जायें तो यह पर के भाव-प्राणो की हिसा हुई। यदि कषायवश पर के शरीर को पोडा पहुँचाई अथवा उसके प्राणो का नाश कर दिया, अथवा वह स्वय आत्मघात कर ले तो यह परद्रव्य-प्राणो की हिंसा हुई। इस प्रकार स्व और पर की अपेक्षा हिंसा के चार भेद हो गये। (१) स्व-भावप्राणहिंसा, (२) स्व-द्रव्यप्राण-हिसा, (३) पर-भावप्राणहिसा तथा (४) पर-द्रव्यप्राणहिंसा। इतना विशेष है कि परहिसा हो या न हो स्व-भावहिसा हर हालत मे होती है। इस प्रकार हिंसा का स्वरूप कहा।

हिसा और अहिसा का निश्चय लक्षण—

अप्रादुर्भाव खलु रागादीना भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिसेति जिनागमस्य सक्षेप ॥

॥४-८-४४॥

अन्वयार्थ—(**खलु**) वास्तव मे (**रागादीना**) रागादि भावो का (**अप्रादुर्भाव.**) प्रकट न होना (**इति**) यही (**अहिसा**) अहिसा (**भवति**) होती है (**तेषामेव उत्पत्ति**) उन रागादि भावो की उत्पत्ति होना ही (**हिंसा**) हिसा है (**इति**) ऐसा (**जिनागमस्य**) जैन आगम का (**सक्षेपः**) सार है।

अर्थ -वास्तव मे रागादि भावो का प्रकट न हाना—यही अहिसा होती है। उन रागादि भावो की उत्पत्ति होना ही हिंसा है। ऐसा जैनागम का सार है।

विशेषार्थ—पिछले श्लोक मे हिंसा का स्वरूप बताते हुये कहा है कि 'कषाय युक्त परिणामो द्वारा अपने शुद्धोपयोग रूप शुद्धात्म स्वरूप का घात ही हिंसा है।' यहाँ उसी भाव को दूसरे रूप से कह रहे है—शुद्धोपयोग रूप शुद्धात्म स्वरूप का घात रागादि परिणामो से होता

है, ऐसे रागादि परिणामो का आत्मा मे प्रकट न होना ही 'अहिंसा' है तथा उन रागादि भावो का आत्मा में प्रकट होना 'हिंसा' है।

द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, जुगुप्सा, प्रमादादि राग के अनेक भेद हैं। किसी पदार्थ को इष्ट मानकर उसमे प्रीति रूप परिणाम करना 'राग' है। इसके विपरीत अप्रीति रूप परिणाम करना 'द्वेष' है। पर द्रव्य मे मूर्च्छा -ममत्वभाव रखना 'मोह' है। स्त्री-पुरुष का मैथुन रूप परिणाम 'काम' है। किसी की क्रिया को अनुचित मानकर क्षोभ करना अथवा अपने या पर के घात या अनुपकार आदि के परिणाम उत्पन्न होना 'क्रोध' है। अपने को बडा तथा दूसरे को छोटा मानना 'मान' है। मन, वचन, काय मे वक्रता अथवा दूसरो को ठगने का परिणाम होना 'माया' है। परद्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा रूप परिणाम 'लोभ' है। भली-बुरी चेष्टा देखकर विकसित रूप परिणाम 'हास्य' है। डरावने अथवा दुःख-दायक पदार्थों को देखकर डर रूप परिणाम 'भय' है। मनचाही चीज के अभाव मे आर्त्तरूप परिणाम 'शोक' है। किसी गन्दी वस्तु को देखकर ग्लानि रूप परिणाम 'जुगुप्सा' है। कल्याणकारी कार्य या अपने कर्त्तव्य मे अनादर रूप परिणाम 'प्रमाद' है। इन रागादि परिणामो/भावो का अभाव होना ही अहिंसा है। इसलिये जितना बन सके तथा जैसे भी बन सके वैसे रागादि भावो का नाश करना चाहिये।

हिंसा का लक्षण परजीव के प्राणो को पीडा पहुँचाना क्यो नही किया? समाधान— इस लक्षण मे अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनो दोष लगते हैं। इसका खुलासा अगले श्लोको मे किया गया है।

अतिव्याप्ति दोष—

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥
॥४-६-४५॥

अन्वयार्थ—(**अपि**) और (**युक्ताचरणस्य**) योग्य—प्रयत्नपूर्वक आचरण करने वाले (**सत·**) सन्तपुरुष के (**रागाद्यावेशमन्तरेण**) रागादि भावो के अभाव मे (**प्राणव्यपरोपणात्**) प्राणघात मात्र से (**हिंसा**) हिंसा (**जातु एव**) कभी भी (**न हि**) नही (**भवति**) होती है।

अर्थ—और योग्य—प्रयत्नपूर्वक आचरण करने वाले सन्तपुरुष के रागादि भावो के अभाव मे प्राणघात मात्र से हिंसा कभी भी नही होती है।

विशेषार्थ—यदि किसी पुरुष के यत्नाचारपूर्वक क्रिया करने पर भी अथवा ईर्यापथ समितिपूर्वक गमनागमन करने पर भी किसी जीव का घात हो जाये तो वह पुरुष हिंसा का दोषी नही है, क्योंकि उसके परिणाम कषाय युक्त नही थे अर्थात् जीव का घात करने के परिणाम कदापि नहीं थे। जिस प्रकार कोई मुनिराज ध्यान मे लीन है अथवा गमनागमन मे पूर्ण सावधानी से यत्नपूर्वक ईर्यासमिति का पालन कर रहे हैं, ऐसे मे कदाचित् कोई जीव उनके शरीर के सम्बन्ध से अथवा उनके पाँव के नीचे आकर मर जाये तो मुनिराज को हिंसा का दूषण नही लगता, क्योकि उनके परिणामो मे कषाय नही थी। इस प्रकार जीव के प्राणघात अथवा शारीरिक पीडा होने पर भी हिंसा का दोष नही लगा। अत 'परजीवो के प्राणो को पीडा पहुँचाना हिंसा है'—हिंसा के ऐसे लक्षण मे अतिव्याप्ति दोष आता है, इसलिये यह लक्षण ठीक नही है।

अव्याप्ति दोष—

व्युत्थानावस्थाया रागादीना वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियता जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुव हिंसा ॥
॥ ४-१०-४६ ॥

अन्वयार्थ—(**रागादीना**) रागादि भावो के (**वशप्रवृत्तायाम्**) वशीभूत होकर (**व्युत्थानावस्थायां**) अयत्नाचार रूप प्रमाद अवस्था

में (जीवः) जीव (म्रियतां) मरो (वा) या (मा) न मरो (हिंसा) हिंसा तो (ध्रुवं) निश्चित रूप से (अग्रे) आगे ही (धावति) दौड़ती है।

अर्थ—रागादि भावों के वशीभूत होकर अयत्नाचार रूप प्रमाद अवस्था में जीव मरो या न मरो, हिंसा तो निश्चित रूप से आगे ही दौड़ती है।

विशेषार्थ—यदि कोई पुरुष रागादि प्रमाद भावों के वशीभूत होकर अयत्नाचार-पूर्वक/असावधानी पूर्वक उठता-बैठता है, गमनागमन करता है अथवा कोई अन्य कार्य करता है तो वहाँ 'जीव मरे अथवा न मरे' परन्तु उस पुरुष को कषायभाव युक्त होने के कारण, हिंसा का दोष अवश्य लगता है। यहाँ परजीव के प्राणों को पीड़ा न होते हुए भी प्रमाद रूप प्रवर्तन करने के कारण हिंसा का दूषण लगा। इसलिए 'परजीव को पीड़ा पहुँचाना हिंसा है'- इस लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है, अतः यह लक्षण ठीक नहीं है।

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि किसी के प्राणों का घात किए बिना अथवा किसी को शारीरिक पीड़ा पहुँचाये बिना हिंसा कैसे संभव है? इसका समाधान आचार्यश्री अगले श्लोक में स्वयं कर रहे हैं।

परजीव के प्राणघात बिना हिंसा कैसे संभव है?

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु॥
॥ ४-११-४७ ॥

अन्वयार्थ—(**यस्मात्**) क्योंकि (**आत्मा**) जीव (**सकषायः सन्**) कषाय भाव से युक्त होने से (**प्रथमम्**) प्रथम तो (**आत्मना**) अपने आप (**आत्मानम्**) अपना ही (**हन्ति**) घात करता है (**तु**) और (**पश्चात्**) बाद में भले ही (**प्राण्यन्तराणां**) दूसरे जीवों की (**हिंसा**) हिंसा (**जायते**) हो (**वा**) या (**न**) न हो।

अर्थ—क्योकि जीव कषायभाव से युक्त होने से प्रथम तो अपने आप अपना ही घात करता है और बाद मे भले ही दूसरे जीवो की हिंसा हो या न हो।

विशेषार्थ—हिंसा का अर्थ है घात करना। घात के दो भेद हैं—एक आत्मघात—अपना घात तथा दूसरा परघात—दूसरे का घात। जब आत्मा कषायभावो से परिणमन करके किसी के घात करने का परिणाम करता है तो सबसे पहले अपना आत्मघात करता है, क्योकि उसने अपने शुद्धोपयोग रूप शुद्धात्म स्वरूप का घात किया। तत्पश्चात् यदि अन्य जीव की आयु पूरी हो गई हो अथवा उसका असाता कर्म का उदय हो तो उसका भी घात हो सकता है। यदि आयु शेष हो या साता कर्म का उदय चल रहा हो तो उसका कुछ भी बिगाड नहीं हो सकता क्योकि उसका घात इत्यादि उसके कर्माधीन है। इस प्रकार परजीव का घात न होते हुए भी, कषाय भावो से अपना आत्मघात तो हो ही गया। आत्मघात तथा परघात दोनो ही तो हिंसा हैं। इस प्रकार परजीव के प्राणघात किए बिना भी हिंसा सभव है।

परघात की अपेक्षा भी हिंसा का सद्भाव—

हिंसाया अविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपण नित्यम्॥

॥४-१२-४८॥

अन्वयार्थ (**हिंसायाः**) हिंसा से (**अविरमणं**) विरक्त न होने से और (**हिंसापरिणमनम्**) हिंसा रूप परिणमन करने से (**अपि**) भी (**हिंसा**) हिंसा (**भवति**) होती है (**तस्मात्**) इसलिये (**प्रमत्तयोगे**) प्रमाद—कषाय के योग मे (**नित्यम्**) निरन्तर (**प्राणव्यपरोपण**) प्राण घात का सद्भाव है।

अर्थ—हिंसा से विरक्त न होने से (हिंसा होती है) और हिंसा-रूप परिणमन करने से भी हिंसा होती है, इसलिए प्रमाद—कषाय के योग मे निरन्तर प्राणघात का सद्भाव है।

विशेषार्थ—परघात की अपेक्षा भी हिंसा के दो भेद हैं—एक 'अविरमणरूप हिंसा' और दूसरा 'परिणमनरूप हिंसा'।

(१) 'अविरमण हिंसा' का अर्थ है हिंसा से विरत न होना अर्थात् हिंसा का त्याग न करना। कोई जीव किसी परजीव का घात तो नही कर रहा है, किसी अन्य ही कार्य मे लगा है, परन्तु क्योकि उसने हिंसा का त्याग नही किया है, इसलिए उसे हिंसा का दोष लगता ही है। यहाँ प्रश्न होता है कि उसने हिंसा तो की नहीं फिर हिंसा का दोष कैसे सभव है ? समाधान—जैसे कोई शेर सो रहा है, हिंसा नही कर रहा है, परन्तु उसके अन्तरग मे हिंसा करने के भाव का सद्भाव है, अतः वह अविरमणरूप हिंसा का भागी है। इसी प्रकार कोई जीव हिंसा तो नही कर रहा है, अन्य ही किसी कार्य मे लगा है, परन्तु हिंसा का त्याग न करने से हिंसा उसके अन्तरग मे विद्यमान है, मौका पडने पर हिंसा कर सकता है, इसलिए वह 'अविरमणरूप हिंसा' का भागी है।

(२) 'परिणमनरूप हिंसा'—जिस समय कोई जीव परजीव के घात मे मन से, वचन से अथवा काय से लगा हुआ है तो उसे 'परिणमनरूप हिंसा' होती है।

हिंसा के उपर्युक्त दोनो भेदो मे प्रमादरूप कषाय के योग का अस्तित्व पाया ही जाता है और जब तक प्रमाद भाव है, तब तक हिंसा का अभाव होना असभव है। इसलिए मन, वचन, काय से हिंसा के त्याग की दृढ प्रतिज्ञा करनी चाहिए।

जब परिणामो से ही हिंसा होती है तो बाह्य परवस्तु का त्याग क्यो करें—

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंस ।
हिंसायतननिवृत्ति· परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥
॥ ४-१३-४९ ॥

अन्वयार्थ—(**खलु**) वास्तव मे (**परवस्तुनिबन्धना**) परवस्तु के कारण से जो उत्पन्न हो ऐसी (**सूक्ष्म हिंसा अपि**) सूक्ष्म हिंसा भी

(**पुंसः**) आत्मा के (**न भवति**) नही होती (**तदपि**) तो भी (**परिणामविशुद्धये**) परिणामो की निर्मलता के लिए (**हिंसायतननिवृत्तिः**) हिंसा के स्थान रूप परिग्रह आदि का त्याग (**कार्या**) करना चाहिए।

अर्थ—वास्तव मे परवस्तु के कारण जो उत्पन्न हो ऐसी सूक्ष्म हिंसा भी आत्मा के नही होती, तो भी परिणामो की निर्मलता के लिए हिंसा के स्थानरूप परिग्रह आदि का त्याग करना चाहिए।

विशेषार्थ—यहाँ यह प्रश्न उठाया गया है कि यदि राग-द्वेष रूप परिणामो से ही हिंसा होती है तो बाह्य परवस्तु का त्याग क्यो करना चाहिए। समाधान - यह तो ठीक है कि परवस्तु के कारण से आत्मा मे सूक्ष्म – रचमात्र भी हिसा नही होती, परन्तु परिणामो की निर्मलता के लिए परवस्तुरूप परिग्रह का त्याग कराया जाता है। क्योकि परवस्तु का निमित्त हो तो उसका अवलम्बन पाकर ही आत्मा मे रागादि परिणाम उत्पन्न होते हैं। जैसे जिस माता के कोई पुत्र हो तो उसी से ऐसा कहा जा सकता है कि 'मैं तेरे पुत्र को मारूँगा'। यदि पुत्र ही न हो तो मारने के परिणाम किस प्रकार हो सकते है? अर्थात् नही हो सकते। उसी प्रकार जब बाह्य परिग्रह आदि का निमित्त हो तो उनका अवलम्बन पाकर कषाय रूप परिणाम होते है, यदि परिग्रह आदि का त्याग कर दिया हो तो अवलम्बन बिना कषाय रूप परिणाम उत्पन्न हो नही हो सकते। इसलिए परिणामो की विशुद्धता के लिए बाह्य कारण रूप परवस्तु का त्याग करना ही चाहिए।

एक पक्षाग्रही का निषेध—

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव सश्रयते।
नाशयति करणचरण स बहि. करणालसो बाल ॥
॥ ४-१४-५० ॥

अन्वयार्थ—(**य·**) जो जीव (**निश्चयम्**) निश्चय के यथार्थ स्वरूप को (**अबुध्यमान.**) न जानकर (**तमेव**) उसे ही (**निश्चयत·**)

निश्चय श्रद्धा से (**संश्रयते**) अगीकार करता है (**स**) वह (**बाल:**) मूर्ख (**बहि: करणालस:**) बाह्य क्रियाओ मे आलसी है और (**करण-चरणं**) बाह्य क्रिया रूप आचरण का (**नाशयति**) नाश करता है।

अर्थ – जो जीव निश्चयनय के यथार्थ स्वरूप को न जानकर, उसे ही निश्चयनयश्रद्धान से अगीकार करता है, वह मूर्ख बाह्य क्रियाओ मे आलसी है और बाह्य क्रिया रूप आचरण का नाश करता है।

विशेषार्थ यहाँ आचार्य श्री ने एकान्तपक्ष का निषेध किया है। कोई निश्चयनय का पक्ष लेने वाला जीव निश्चयनय के यथार्थ स्वरूप को जानता नही, केवल व्यवहार रूप बाह्य परिग्रह का त्याग करता है उपवासादि का पालन करता है, बाह्य क्रियाकाण्ड को ही उपादेय मानकर उसी को मोक्षमार्ग जानता है, ऐसा पुरुष अनुभव रूप शुद्धोपयोगमय शुद्धात्म स्वभाव का नाश करता है। अशुभोपयोग का तो त्याग किया है, पर-जीव की दयारूप धर्म का पकडकर ही सन्तुष्ट है। शुद्धोपयोग रूप शुद्धात्म स्वभाव के अनुभव का पुरुषार्थ नही करता।

अथवा

कोई जीव निश्चयाभासी हुआ, बाह्य परिग्रह आदि का त्याग किए विना, व्रत सयमादि को ग्रहण किए विना स्वच्छन्द हुआ प्रवर्तन करता है। अन्तरग हिसा को ही हिसा मानता है। ऐसा कहता है 'कि बाह्य परिग्रहादि रखने मे, अथवा बाह्य सयमादि पालन न करने मे मुझमे कोई दोष नही आता, भाव शुद्ध होना चाहिए, बाह्य क्रिया कुछ भी करो, इसमे आत्मा का कुछ बिगाड नही होता। ऐसा प्रमादी जीव बाह्य दयाधर्म का नाश करता है। अन्तरग निमित्त पाकर ही बाह्य परिणाम भी शुद्ध होते है, इस प्रकार अन्तरग अपेक्षा भी निर्दय ही हुआ।

इस प्रकार दोनो ही एकान्त पक्ष मे मूढ होने के कारण वास्तविक मोक्षमार्ग का अनुसरण नही कर पाये। निश्चयनय और व्यवहारनय दोनो को भलीप्रकार समझकर अगीकार करना चाहिए, तभी सच्चा मोक्षमार्ग बनता है।

द्रव्यहिंसा और भावहिंसा की अपेक्षा आठसूत्र। पहला सूत्र—

अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥
॥ ४-१५-५१ ॥

अन्वयार्थ—(**हि**) वास्तव मे (**एक.**) एक जीव (**हिंसां**) हिंसा को (**अविधायापि**) न करने पर भी (**हिंसाफलभाजन**) हिंसा के फल को भोगने का पात्र (**भवति**) होता है और (**अपरः**) दूसरा (**हिंसा कृत्वा अपि**) हिंसा करके भी (**हिंसाफलभाजनं**) हिंसा के फल को भोगने का पात्र (**न स्यात्**) नही होता है।

अर्थ—वास्तव मे एक जीव हिंसा को न करके भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र है और दूसरा हिंसा करके भी हिंसा के फल भोगने का पात्र नही होता है।

विशेषार्थ—किसी जीव ने द्रव्यहिंसा तो नही की परन्तु अन्तरग मे भावहिंसा विद्यमान होने के कारण वह हिंसा के फल का भागी है तथा अन्य कोई जीव द्रव्यहिंसा करके भी अन्तरग मे भावहिंसा के अभाव के कारण हिंसा के फल का भागी नही है। वह कैसे ? इसी को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—जैसे कोई मछुआ सबेरे से साय तक मछली पकडने की इच्छा / भावना से नदी मे जाल डाले बैठा रहा, किन्तु मछली एक भी नही फसी। इस दशा मे मछुआ द्रव्यहिंसा न करते हुए भी भावहिंसा का अपराधी है, अत वह हिंसा के फल का भागी है। पुन कोई वीतरागी मुनि ध्यान मे लीन है, अथवा इर्यासमितिपूर्वक सावधानी से गमनागमन कर रहा है, कदाचित् कोई जीव उसके शरीर से टकराकर अथवा पाँव के नीचे आकर मर जाये, तो द्रव्यहिंसा होते हुए भी भावहिंसा के अभाव मे मुनि हिंसा के फल का भागी नही है।

इस प्रकार एक जीव द्रव्यहिंसा न करके भी भावहिंसा विद्यमान होने के कारण हिंसा के फल का भागी है और दूसरा द्रव्यहिंसा के होते हुए भी भावहिंसा के अभाव मे हिंसा के फल का भागी नही है। हिंसा / अहिंसा मे भावो की ही प्रधानता है।

सूत्र २—अल्पहिंसा करने पर महाहिंसा का फल तथा बहुत हिंसा करने पर अल्पहिंसा का फल—

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् ।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ।।
।। ४-१६-५२ ।।

अन्वयार्थ—(**एकस्य**) एक जीव को तो (**अल्पा**) छोटी सी (**हिंसा**) हिंसा भी (**काले**) उदयकाल मे (**अनल्पम्**) बहुत अधिक (**फलम्**) फल (**ददाति**) देती है और (**अन्यस्य**) दूसरे जीव को (**महाहिंसा**) बहुत अधिक हिंसा भी (**परिपाके**) उदय काल मे (**स्वल्पफला**) बहुत ही थोडा फल देने वाली (**भवति**) होती है ।

अर्थ—एक जीव को तो छोटी-सी हिंसा भी उदयकाल मे बहुत अधिक फल देती है और दूसरे जीव को अधिक हिंसा भी उदयकाल मे बहुत ही थोडा फल देने वालो होती है ।

विशेषार्थ—कर्मों के फल देने की शक्ति को 'अनुभाग बन्ध' कहते हैं । हिंसादि पाप करते समय जितनी तीव्र/मन्द कषाय होगी, उसी के अनुसार कर्मों का अनुभाग बन्ध होता है और उसके उदयकाल मे उसी के अनुसार तीव्र/मन्द फल भोगना पडता है । यही बात इस श्लोक मे कही है कि एक पुरुष ने बाह्य-द्रव्यहिंसा तो बहुत कम मात्रा मे की, परन्तु अन्तरग मे भावहिंसा अति तीव्र होने के कारण उसे तीव्र कर्मबन्ध होगा, अत महाहिंसा का फल भोगना होगा । अन्य किसी पुरुष ने द्रव्यहिंसा तो बहुत अधिक की, परन्तु अन्तरग मे भावहिंसा मन्द होने के कारण उसे मन्द कर्मबन्ध होगा, अत. हिंसा का बहुत थोडा फल मिलेगा । जैसे—किसी ने किसी को बहुत यातना देने का अभिप्राय मन मे रखा, परन्तु किसी कारणवश मामूली यातना ही दे सका, ऐसी दशा मे उसे कर्म के उदय काल मे महान हिंसा का फल भोगना पडेगा । अन्य किसी पुरुष ने मन्दकषाय पूर्वक किसी पक्षी को पेड के फल की रक्षा हेतु साधारणतया भगाया, परन्तु पक्षी मर गया, तो ऐसी दशा मे उस पुरुष को कर्म के उदयकाल मे अल्पहिंसा का फल भोगना पडेगा । इस प्रकार हिंसा का फल अन्तरग भावहिंसा की

तीव्रता/मन्दता पर निर्भर करता है। यहाँ भी भावो की ही प्रधानता है।

तीसरा सूत्र - एक ही हिंसा के तीव्र और मन्द फल —

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥
॥ ४-१७-५३ ॥

अन्वयार्थ (**सहकारिणो अपि हिंसा**) एक साथ मिलकर की हुई हिंसा भी (**फलकाले**) फल देने के समय मे —उदयकाल मे (**अत्र**) इस (**वैचित्र्यम्**) विचित्रता का (**व्रजति**) प्राप्त होती है (**एकस्य**) किसी को (**सा एव**) वही हिंसा (**तीव्र**) तीव्र (**फल**) फल (**दिशति**) दिखाती है और (**अन्यस्य**) किसी दूसरे को (**सा एव**) वही हिंसा (**मन्दम्**) मन्द फल देती है।

अर्थ—एक साथ मिलकर की हुई हिंसा भी, फल देने के समय मे उदयकाल मे इस विचित्रता को प्राप्त होती है। किसी एक को वही हिंसा तीव्रफल दिखलाती है और किसी दूसरे को वही हिंसा मन्दफल देती है।

अन्वयार्थ पिछले श्लोक मे कथित भाव को यहाँ पुन दर्शाया है। दो पुरुषो ने बाह्य-द्रव्यहिंसा तो एक साथ मिलकर की, परन्तु उस एक हिंसा का फल दोनो को तीव्र और मन्द रूप उनकी भाव-हिंसा के अनुसार भोगना पडेगा। वह कैसे उनमे से एक पुरुष ने तो तीव्र कषाय भाव से द्रव्य हिंसा की, उसकी भावहिंसा अधिक होने से उसे उदयकाल मे तीव्रफल मिलेगा। दूसरे पुरुष ने मन्द कषाय भाव से द्रव्यहिंसा की, उसकी भावहिंसा मन्द होने से उसे उदयकाल मे मन्दफल मिलेगा। इस प्रकार कर्मों के फल की मन्दता/तीव्रता जीव के मन्द/तीव्र भावो पर निर्भर है। यहाँ भी पुन भावो की ही प्रधानता है।

चौथा सूत्र—कषाय भाव अनुसार हिंसा का फल -

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृताऽपि।
आरभ्य कर्तुमकृताऽपि फलति हिंसानुभावेन॥
॥ ४-१८-५४ ॥

अन्वयार्थ—(**हिंसा**) कोई हिंसा (**प्राक् एव**) पहले ही (**फलति**) फल देती है, कोई (**क्रियमाणा**) करते-करते (**फलति**) फल देती है, कोई (**कृता अपि**) कर लेने के बाद (**फलति**) फल देती है (**च**) और कोई (**कर्तुम्आरभ्य**) हिंसा करने का आरम्भ करके (**अकृता अपि**) न किये जाने पर भी (**फलति**) फल देती है, इस प्रकार (**हिंसा**) हिंसा (**अनुभावेन**) कषायभाव अनुसार ही फल देती है।

अर्थ -कोई हिंसा पहले फल देती है, कोई करते-करते फल देती है, कोई कर लेने के बाद फल देती है और कोई हिंसा करने का आरम्भ करके न किये जाने पर भी फल देती है।

विशेषार्थ—द्रव्यहिंसा पहले हो, बाद मे हो, उसी समय हो अथवा न भी हो, फल तो भावहिंसा—कषायभाव अनुसार भोगना ही पडता है। इसी का स्पष्टीकरण -

(१) किसी जीव ने हिंसा करने का विचार किया, परन्तु किसी कारणवश द्रव्यहिंसा करने मे असफल रहा। कषायभावो के कारण जो कर्मबन्ध हुआ था, कालान्तर से उसका फल उदय मे आया। तत्पश्चात् जो विचार किया था वह इच्छित द्रव्यहिंसा करने मे भी समर्थ हो गया। इस प्रकार द्रव्यहिंसा से पहले ही उसका फल भोगने मे आ गया।

(२) किसी जीव ने हिंसा करने का विचार किया, परन्तु किसी कारणवश द्रव्यहिंसा न कर सका। कषाय भावो के कारण जो कर्म-बन्ध किया था कालान्तर मे वह उदय मे आया तथा उसी समय वह इच्छित द्रव्यहिंसा करने मे भी सफल हो गया, इस प्रकार द्रव्यहिंसा करते समय ही उसका फल भोगने मे आ गया।

(३) किसी जीव ने हिंसा का विचार किया तथा विचार अनुसार द्रव्यहिंसा करने मे भी सफल हो गया। कषायभावो के कारण जो कर्मबन्ध किया था, उसका उदय बाद मे आया, इस प्रकार द्रव्य-हिंसा के बाद फल भोगने मे आया।

(४) किसी जीव ने हिंसा का विचार करके उसका आरम्भ किया, परन्तु किसी कारणवश सफल नही हो सका। कषायभावो के कारण जो कर्मबन्ध किया था, उसका फल तो उसे भोगना ही पडेगा। इस प्रकार हिंसा न करने पर भी फल भोगने मे आयेगा।

इस प्रकार द्रव्यहिंसा हो या न हो, अथवा बाद मे हो या पहले हो, भावहिंसा—कषायभावो के अनुसार फल तो अवश्य भोगना पडेगा।

पाँचवा सूत्र—हिंसक एक, फलभोक्ता अनेक तथा हिंसक अनेक, फलभोक्ता एक—

एक. करोति हिंसा भवन्ति फलभागिनो बहव ।
बहवो विदधति हिंसा हिंसाफलभुग् भवत्येक· ॥
॥४-१६-५५ ॥

अन्वयार्थ—(**हिंसां**) हिंसा तो (**एक**) एक पुरुष (**करोति**) करता है परन्तु (**फलभागिनः**) फल भोगने वाले (**बहव.**) बहुत है। इसी प्रकार (**हिंसां**) हिंसा तो (**बहव**) बहुत पुरुष (**विदधति**) करते हैं, परन्तु (**हिंसाफलभुक्**) हिंसा का फल भोगने वाला (**एक.**) एक ही (**भवन्ति**) होता है।

अर्थ—हिंसा तो एक पुरुष करता है, परन्तु फल भोगने वाले बहुत होते है। इसी प्रकार हिंसा तो बहुत पुरुष करते है, परन्तु हिंसा का फल भोगने वाला एक ही है।

विशेषार्थ—कभी-कभी ऐसा भी होता है कि—(१) द्रव्यहिंसा तो एक जीव करता है, परन्तु भावहिंसा के कारण उसका फल अनेक जीव पाते हैं। जैसे—कोई पुरुष अन्य पुरुष को मार रहा है, अन्य

दर्शक उसके इस हिंसक कार्य को अच्छा कहते हैं तथा प्रसन्न हो रहे हैं, ऐसी स्थिति मे वे सर्व दर्शक रौद्र परिणाम करने के कारण पाप-कर्म का बन्ध करते हैं तथा कालान्तर से उसे भोगेंगे। इस प्रकार हिंसा एक ने की परन्तु फल अनेक लोगो ने भोगा। (२) द्रव्यहिंसा अनेक जीव करते हैं, परन्तु भावहिंसा के अभाव मे उस हिंसा का फल एक ही जीव भोगता है। जैसे—युद्ध मे हिंसा तो अनेक सैनिक करते है, परन्तु उस हिंसा का फल राज्य के प्रति स्वामित्व बुद्धि होने के कारण राजा को ही भोगना होगा। इस प्रकार हिंसा अनेक करते हैं परन्तु भोगने वाला एक है।

छठा सूत्र—किसी की हिंसा तो हिंसारूप और अन्य की हिंसा अहिंसारूप फल देती है—

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम्॥
॥ ४-२०-५६॥

अन्वयार्थ—(**कस्यापि**) किसी पुरुष को तो (**हिंसा**) हिंसा (**फलकाले**) उदयकाल मे (**एकमेव**) एक ही (**हिंसाफलम्**) हिंसा का फल (**दिशति**) देती है और (**अन्यस्य**) दूसरे किसी को (**सैव**) वही (**हिंसा**) हिंसा (**विपुलम्**) बहुत (**अहिंसाफलं**) अहिंसा का फल (**दिशति**) देती है।

अर्थ—किसी पुरुष को तो हिंसा उदयकाल मे एक ही हिंसा का फल देती है और दूसरे किसी को वही हिंसा बहुत अहिंसा का फल देती है।

विशेषार्थ—कार्य का फल अन्तरग परिणामो के अनुसार ही मिलता है। यहाँ हिंसा तो दोनों पुरुष कर रहे हैं, परन्तु एक को तो हिंसा का फल हिंसारूप (पापरूप) मिलता है तथा दूसरे को हिंसा का फल अहिंसा रूप (पुण्यरूप) मिलता है—

किसी पुरुष ने हत्या करने के अभिप्राय से किसी का पेट छुरे से फाड दिया। क्योकि उसके अन्तरग मे हत्या करने के कषाययुक्त परिणाम थे, इसलिए उसे हिसा का फल हिसारूप (पापरूप) मे ही भोगना पडेगा। दूसरी ओर एक डाक्टर दयाभाव से, किसी रोगी को ठीक करने के अभिप्राय से, उसके पेट की चीर-फाड कर रहा है, उस चीर-फाड मे रोगी को पीडा भी पहुँच रही है, परन्तु डाक्टर का अभिप्राय रोगी को ठीक करने का है, कष्ट पहुँचाने का नही, इसलिए डाक्टर हिसा करके भी अहिसा के फल (पुण्य) का भागी है—

सातवाँ सूत्र —किसी की अहिसा तो हिसारूप और अन्य की हिसा अहिसारूप फल देती है—

हिसाफलमपरस्य तु ददात्यहिसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिसा दिशत्यहिसाफल नान्यत्॥
॥ ४-२१-५७ ॥

अन्वयार्थ—(**तु अपरस्य**) और अन्य किसी को (**अहिसा**) अहिसा (**परिणामे**) उदयकाल मे (**हिसाफल**) हिसा का फल (**ददाति**) देती है (**तु पुन.**) तथा (**इतरस्य**) दूसरे किसी को (**हिसा**) हिसा (**अहिसाफल**) अहिसा का फल (**दिशति**) देती है (**अन्यत् न**) अन्य नही।

अर्थ—और अन्य किसी को अहिसा उदयकाल मे हिसा का फल देती है तथा दूसरे किसी को हिसा अहिसा का फल देती है, अन्य नही।

विशेषार्थ—एक व्यक्ति कार्य तो अहिसा का करता है परन्तु फल हिसा का पाता है और दूसरा व्यक्ति कार्य तो हिसा का करता है पर फल अहिसा का पाता है। किसी जीव के अन्तरग मे तो कपटभाव है और वह दूसरे का बुरा करना चाहता है, परन्तु बाह्य मे विश्वास जमाने के लिये भला करता है अथवा सकट से बचाता है। पुण्योदय से दूसरे का भला हो जाता है अथवा उसका सकट दूर हो जाता है।

यहाँ बाह्य मे तो दया की परन्तु अन्तरग मे हिसा के परिणाम होने से उसका फल हिसारूप (पापरूप) ही मिलेगा। दूसरी ओर माँ-बाप अथवा गुरुजन बच्चे की भलाई के लिए उसे डांटते हैं, दण्ड देते हैं, कदाचित् पीट भी देते हैं। बाह्य मे तो वे हिसारूप कार्य कर रहे हैं, बच्चे को पीडा भी होती है, परन्तु अन्तरग मे उस बच्चे के हित के परिणाम हैं, इसलिए हिसा करते हुए भी फल अहिसा का (पुण्यरूप) हो पायेंगे। इस प्रकार हिसा/अहिसा भाव-प्रधान है तथा फल उसी अनुसार प्राप्त होता है।

आठवा सूत्र—नयसमूह के ज्ञाता श्री गुरु ही शरण है—

इतिविविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम् ।
गुरवो भवन्ति शरण प्रबुद्धनयचक्रसञ्चारा: ॥
॥ ४-२२-५८ ॥

अन्वयार्थ (**इति**) इस प्रकार (**सुदुस्तरे**) अत्यन्त कठिनाई से पार हो सकने वाले (**विविधभङ्गगहने**) अनेक प्रकार के भग रूपी घने वन मे (**मार्गमूढदृष्टीनाम्**) मार्ग भूले हुये पुरुष को (**प्रबुद्धनय-चक्रसञ्चारा**) अनेक प्रकार के नय-समूह के ज्ञाता (**गुरवः**) श्री गुरु ही (**शरण**) शरण (**भवन्ति**) होते है।

अर्थ—इस प्रकार अत्यन्त कठिनाई मे पार हो सकने वाले अनेक भगरूपी घने वन मे मार्ग भूले हुए पुरुष को अनेक प्रकार के नयसमूह के ज्ञाता श्री गुरु ही शरण होते है।

विशेषार्थ—पिछले कुछ श्लोको मे हिसा/अहिसा के अनेक भगो/भेदो का कथन किया गया है। किस कार्य मे हिसा/अहिसा है? इसका फैसला नयो के यथार्थ ज्ञान के बिना नही किया जा सकता। यहाँ उन अनेक भगो को कठिनाई से पार हो सकने वाले वन की उपमा दी है। जैसे कोई मनुष्य वन मे खो जाता है तो उसे जब तक सही मार्गदर्शक न मिले तब तक वह वन से बाहर नही निकल सकता,

वैसे ही अहिंसा/हिंसा के अनेक भगों को, नयरूपी चक्रव्यूह के ज्ञाता, गुरु ही सही प्रकार समझा सकते हैं। किसी व्यक्ति की भावनाओ को जाने बिना यह निर्णय नही किया जा सकता कि उसका अमुक कार्य हिसारूप है अथवा अहिंसारूप। मनुष्य की बाह्य प्रवृत्ति के आधार से उसके अन्तरग परिणामो का सही अन्दाजा नही लगाया जा सकता कि उसका अभिप्राय अहिसक है अथवा हिसक। अत हिसा /अहिसा का सही स्वरूप और रहस्य नाना नयो के जानने वाले गुरु से समझना चाहिए।

नयभेद समझना अति कठिन है—

> **अत्यन्तनिशितधारं दुरासद जिनवरस्य नयचक्रम्।**
> **खण्डयति धार्यमाण मूर्धान झटिति दुर्विदग्धानाम्॥**
> ॥ ४-२३-५९ ॥

अन्वयार्थ—(**जिनवरस्य**) जिनेन्द्र भगवान् का (**अत्यन्तनिशित-धार**) अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला और (**दुरासदं**) दु साध्य (**नय-चक्रम्**) नयचक्र (**धार्यमाण**) धारण करने पर (**दुर्विदग्धानाम्**) मिथ्याज्ञानी पुरुषो के (**मूर्धान**) मस्तक को (**झटिति**) तुरन्त ही (**खण्डयति**) खण्ड-खण्ड कर देता है।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् का अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला और दु-साध्य नयचक्र धारण करने पर, मिथ्याज्ञानी पुरुषो के मस्तक को तुरन्त ही खण्ड-खण्ड कर देता है।

विशेषार्थ—जैन मत का नयभेद अत्यन्त कठिन तथा दुर्भेद्य है। उसको समझने के लिये प्रखर ज्ञान तथा विवेक की आवश्यकता है। अगर कोई अज्ञानी पुरुष जाने-समझे बिना चक्र (गोलाकार अस्त्र) का प्रयोग करे तो वह अपने अगो को ही छेद डालेगा। ठीक यही स्थिति नयचक्र की है। अगर कोई अज्ञानी पुरुष भली प्रकार जाने-समझे बिना नयरूपी चक्र का प्रयोग करता है तो वह लाभ के बदले हानि ही उठायेगा। इसलिये गुरुजनो से भली प्रकार समझकर नयो

का सम्यक्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ताकि वस्तु के रहस्य और स्वरूप को भली प्रकार समझ सके।

हिसा के त्याग का उपदेश—

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥
॥ ४-२४-६० ॥

अन्वयार्थ—(**अवगूहमानैः**) सवर मे उद्यमी पुरुषो को (**हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि**) हिस्य, हिसक, हिसा और हिसा के फलो को (**तत्त्वेन**) यथार्थ रीति से (**अवबुध्य**) जानकर (**नित्यम्**) निरन्तर (**निजशक्त्या**) अपनी शक्ति अनुसार (**हिंसा**) हिसा (**त्यज्यतां**) छोडनी चाहिए।

अर्थ—सवर मे उद्यमी पुरुषो को हिस्य, हिसक, हिसा और हिसा के फलो को यथार्थ रीति से जानकर निरन्तर अपनी शक्ति अनुसार हिसा छोडनी चाहिए।

विशेषार्थ—इस श्लोक मे हिसा के त्याग का उपदेश है। जो जीव मोक्षमार्ग मे बढना चाहते हैं, अपना आत्मकल्याण करना चाहते हैं, उन्हे यथाशक्ति जितना ज्यादा से ज्यादा हो सके हिंसा का त्याग करना चाहिए। हिसा का सम्यक्ज्ञान करने के लिए हिसा के चार भाव—हिस्य, हिसक, हिसा और हिंसा के फल को यथार्थ रीति से जानना-समझना चाहिए।

(१) 'हिस्य'—जिसकी हिसा की जावे उसे हिंस्य कहते हैं। जैसे अपने या परजीव के भावप्राण अथवा द्रव्यप्राण। अथवा जहां-जहां जीव के उत्पन्न होने के स्थान हैं, उन्हे जानना ताकि जीव-हिसा न हो।

(२) 'हिसक'—प्रमाद भाव से या अयतनाचार रूप प्रवृत्ति के कारण हिंसा करने वाले अर्थात् घात करने वाले अथवा पीडा पहुँचाने वाले जीव को हिंसक कहते है।

(३) 'हिंसा'—प्रमाद भाव से हिंस्य का घात करना अथवा पीडा पहुँचाना हिंसा है।

(४) 'हिंसा का फल'—हिंसा के कारण जो पापरूप कर्मबन्ध होता है, उसके फल को हिंसाफल कहते है। इस लोक मे निन्दा तथा राजदण्ड हिंसा का फल है तथा परलोक मे नरक, निगोद, तिर्यंच आदि गति पाना। दुर्गतियो मे महान दु खो के समुदाय को चिरकाल-पर्यंत भोगना फल है।

इस प्रकार 'हिंस्य' को जानकर उसका घात न करे, 'हिंसक' को जानकर स्वय हिंसक न बने, 'हिंसा' को जानकर उसका त्याग करे तथा 'हिंसा के फल' को जानकर उससे सदा भयभीत रहे।

हिंसा के त्याग के लिए प्रथम ही क्या करना चाहिए।

मद्य मास क्षौद्र पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव॥
॥ ४-२५-६१ ॥

अन्वयार्थ—(**हिंसाव्युपरतिकामै**) हिंसा के त्याग के इच्छुक पुरुषो को (**प्रथममेव**) प्रथम ही (**मद्यं**) शराब (**मास**) माम (**क्षौद्र**) शहद और (**पञ्चोदुम्बरफलानि**) पाँच उदुम्बर फलो को (**यत्नेन**) यत्नपूर्वक (**मोक्तव्यानि**) त्याग देना चाहिए।

अर्थ—हिंसा के त्याग के इच्छुक पुरुषो को प्रथम ही शराब, मास, शहद और पाँच उदुम्बर फलो को यत्नपूर्वक त्याग देना चाहिए।

विशेषार्थ—जो जीव हिंसा का त्याग करना चाहता है, उसे सर्व-प्रथम ही शराब, मांस, शहद और पाँच उदुम्बर फल—बडफल, पीपलफल, पाकरफल, अजीर और गूलर के सेवन का त्याग यत्न-पूर्वक करना चाहिये, क्योकि इनके सेवन से असख्यात त्रस जीवो की द्रव्यहिंसा तथा इन पदार्थों के सेवन के प्रति राग होने से भावहिंसा

भी होती है। इन पदार्थों के सेवन मे क्या दोष है तथा हिसा किस प्रकार होती है, इसका खुलासा आचार्यश्री स्वय आगे के श्लोको मे करेंगे।

मद्य (शराब) के दोष—

मद्य मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम् ।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ।।
।।४-२६-६२।।

अन्वयार्थ—(**मद्य**) शराब (**मनो मोहयति**) मन को मोहित करती है और (**मोहितचित्तः**) मोहित चित्त वाला पुरुष (**तु**) तो (**धर्मम्**) धर्म को (**विस्मरति**) भूल जाता है तथा (**विस्मृतधर्मा**) धर्म को भूला हुआ (**जीवः**) जीव (**अविशङ्कम्**) नि.शक—निडर होकर (**हिंसाम्**) हिसा का (**आचरति**) आचरण करता है।

अर्थ—शराब मन को मोहित करती है, और मोहित चित्त वाला पुरुष तो धर्म को भूल जाता है तथा धर्म को भूला हुआ जीव निडर होकर हिसा का आचरण करता है।

विशेषार्थ—इस श्लोक मे शराब पीने के दोषो का उल्लेख है। मदिरा मन को मोहित करती है अर्थात् बुद्धि को भ्रष्ट करती है। जिसका चित्त मोहित है वह अपने धर्म को भूल जाता है और निःशक होकर उन्मत्त के समान आचरण करता है। वह विवेकहीन तथा निर्लज्ज हो जाता है, पत्नी और माता का अन्तर भी भूल जाता है, भक्ष्य-अभक्ष्य का ज्ञान खो देता है तथा उसकी क्रूर और हिसक भावनाये जागृत हो जाती है। शराब के नशे मे वेश्यागमन करता है, चोरी करता है, जुआ खेलता है। ससार का कौन सा व्यसन है जो शराबी जीव मे उत्पन्न नही हो जाता है। अत हिसा के त्याग के लिये मदिरापान का अवश्य त्याग करना चाहिये।

मदिरा हिंसा का साक्षात् कारण—

रसजानां च बहूनां जीवाना योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्य भजतां तेषां हिंसा सजायतेऽवश्यम्॥
॥४-२७-६३॥

अन्वयार्थ—(**च**) और (**मद्यम्**) मदिरा (**रसजानां**) रस से उत्पन्न (**बहूनां**) बहुत (**जीवानां**) जीवो का (**योनिः**) उत्पत्ति स्थान (**इष्यते**) मानी जाती है। इसलिये जो (**मद्यं**) मदिरा (**भजता**) पान करता है, उसके (**तेषा**) उन जीवो की (**हिंसा**) हिंसा (**अवश्यम्**) अवश्य ही (**सजायते**) होती है।

अर्थ—और मदिरा रस से उत्पन्न हुए बहुत जीवो का उत्पत्ति स्थान मानी जाती है। इसलिये जो मदिरापान करता है, उसके उन जीवो की हिंसा अवश्य ही होती है।

विशेषार्थ—अब बताते है कि मदिरापान मे हिंसा कैसे घटित होती है। मद्यपान मे हिंसा का होना अनिवार्य है। अनेक पदार्थों के रस को सडाकर मदिरा का निर्माण किया जाता है। उस रस मे अनेक जीवो की उत्पत्ति होती है। उस रस को फिल्टर करके मदिरा बनाई जाती है, अत अनन्त जीवो का घात होता है। मदिरा मे भी निरन्तर जीवो की उत्पत्ति होती रहती है तथा अनेक जीव उसमे ही जन्म-मरण करते रहते हैं। मदिरा पोने वाला पुरुष उन समस्त जीवो को पी जाता है तथा महान हिंसा का भागी होता है। हिंसा से बचने के लिये मदिरापान का त्याग करना एकमात्र उपाय है।

मदिरापान से उत्पन्न होने वाली हिंसा—

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः॥
॥४-२८-६४॥

अन्वयार्थ—(**अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः**) अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोधादि

(**हिंसायाः**) हिंसा की (**पर्याया**) पर्यायें हैं (**च**) और (**सर्वेऽपि**) यह सभी (**सरकसन्निहिताः**) मदिरा के निकटवर्ती हैं।

अर्थ—अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोधादि हिंसा की पर्यायें है और यह मदिरा के निकटवर्ती हैं।

विशेषार्थ—मदिरापान करने वाला पुरुष हर प्रकार का विवेक खो देता है। उसमे अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम तथा क्रोधादि कषाय निरकुश उत्पन्न होती हैं। रागादि भावो का उत्पन्न होना ही हिंसा है, इसलिये उपर्युक्त सभी विकार हिंसा ही हैं। शराबी मनुष्य मे इनका उत्पन्न होना अनिवार्य है। मदिरा-पान करने से वह तीव्र रूप से प्रकट होती है तथा तीव्र पापबन्ध का कारण बनती हैं, जिनका फल महान दुःख रूप हो है। इसलिये मदिरापान का ही नही, अन्य मादक पदार्थों का भी त्याग करना हमारे लिए उपकारी है।

मासाहार मे हिंसा—

न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांस भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा॥
॥ ४-२९-६५ ॥

अन्वयार्थ—(**यस्मात्**) क्योकि (**प्राणिविघातात् विना**) प्राणियो का घात किये बिना (**मांसस्य**) मास की (**उत्पत्तिः**) उत्पत्ति (**न इष्यते**) नही मानी जा सकती (**तस्मात्**) इसलिए (**मांसं भजत**) मास खाने वाले जीव के (**अनिवारिता**) अनिवार्य रूप से (**हिंसा**) हिंसा (**प्रसरति**) फैलती है।

अर्थ—क्योकि प्राणियो का घात किये बिना मास की उत्पत्ति नही मानी जा सकती, इसलिये मांस खाने वाले जीव के अनिवार्य रूप से—अवश्य ही हिंसा फैलती है—लगती है।

विशेषार्थ—फल-सब्जी के समान वृक्षो पर अथवा भूमि मे मास उत्पन्न नही होता। वह तो दो-इन्द्रिय आदि जीवो के शरीर का भाग

है, उनके शरीर मे ही होता है। जब उनके शरीरो का घात किया जाता है, तभी मास की प्राप्ति होती है। प्राणियो का बध किए बिना मास अन्य किमो प्रकार प्राप्त नही होता। अतः मास-भक्षण महान हिमा का का कार्य है, पाप की चरम सोमा है।

क्या स्वय मरे हुये जीव का मास खाने मे हिसा नही ?—

यद्यपि किल भवति मास स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादे ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मंथनात् ॥
॥ ४-३०-६६ ॥

अन्वयार्थ—(**यद्यपि**) यद्यपि (**किल**) यह सत्य है कि (**स्वयमेव**) अपने आप ही (**मृतस्य**) मरने वाले (**महिषवृषभादे**) भेंस, बैल इत्यादि का (**मास**) मास (**भवति**) होता है, परन्तु (**तत्रापि**) वहाँ भी अर्थात् उस मास के खाने मे भो (**तदाश्रितनिगोतनिर्मंथनात्**) उसके आश्रय रहने वाले उसी जाति के निगोदिया जीवो के घात से (**हिंसा**) हिंसा (**भवति**) होती है।

अर्थ—यद्यपि यह सत्य है कि अपने आप ही मरने वाले भेंस, बल इत्यादि का मास होता है, परन्तु वहाँ भी अर्थात् उस मास के खाने मे भी उसके आश्रय से रहने वाले उसी जाति के निगोदिया जीवो के घात से हिसा होती है।

विशेषार्थ—क्या अपनो स्वाभाविक मृत्यु से मरे हुये भेंस इत्यादि जीवो का मास खाने मे भी हिसा है ? हा ! अपने आप मरे हुये गाय-भेंस इत्यादि जीवो का मास खाने मे भी हिसा का महान पाप है। क्योकि उस जीव के शरीर के आश्रय से उसी जाति के अनन्त सूक्ष्म सम्मूर्छन जीव रहते है। जीव को मृत्यु के पश्चात् भी उसके मास मे अनन्त निगोदिया जीवो की उत्पत्ति निरन्तर होती है। अत मृतक शरीर का मास भक्षण करने मे भी उन सभी अनन्त जीवो का घात होने से हिसा अवश्य होती है। इसलिये स्वयं मरे हुए जीवो का मास भी नही खाना चाहिए।

प्रत्येक अवस्था में मास मे निगोद जीवों की उत्पत्ति—

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु ।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥
॥ ४-३१-६७ ॥

अन्वयार्थ—(**आमासु**) कच्चे अथवा (**पक्वासु**)पके हुये (**अपि**) तथा (**विपच्यमानासु**) पकते हुये (**मांसपेशीषु**) मास के टुकडो मे (**अपि**) भी (**तज्जातीना**) उसी जाति के (**निगोतानाम्**) सम्मूर्छन जीवो का (**सातत्येन**) निरन्तर (**उत्पादः**) उत्पाद होता है ।

अर्थ—कच्चे अथवा पके हुये तथा पकते हुए मास के टुकडो मे भी उसी जाति के सम्मूर्छन जीवो का निरन्तर उत्पाद होता है ।

विशेषार्थ—पूर्व मे बताया गया था कि मास मे उसी जाति के अनन्त सूक्ष्म निगोदी जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं । ठीक यही दशा उस मास की भी है जो कच्चा है, अथवा पका हुआ है या पक रहा है । अर्थात् मास की सर्व अवस्थाओ मे उसी मास की जाति के अनन्त सूक्ष्म निगोदी जीव समय-समय पर निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं । कुछ मासभक्षी लोगो के मन मे यह भ्रान्ति है कि पका हुआ मास निर्जीव होता है, अत· उसके खाने मे कोई पाप नही है । वास्तव मे यह बिलकुल गलत धारणा है । मास की प्रत्येक अवस्था जीवयुक्त है, निरन्तर जीव-उत्पत्ति का स्थान है, अत उसका भक्षण हिसा होने से महापाप का कारण है ।

मास भक्षण से हिसा होती है—

आमां वा पक्वां वा खादति य. स्पृशति वा पिशितपेशीम् ।
स निहन्ति सततनिचित पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥
॥ ४-३२-६८ ॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो पुरुष (**आमां**) कच्चे (**वा**)अथवा (**पक्वां**) अग्नि पर पके हुये (**पिशितपेशीम्**) मांस के टुकडे को (**खादति**)

खाता है (**वा**) अथवा (**स्पृशति**) छूता है (**सः**) वह पुरुष (**सतत-निचितं**) निरन्तर इकट्ठे हुये (**बहुजीवकोटीनाम्**) अनेक जाति के जीव-समूह के (**पिण्ड**) पिण्ड का (**निहन्ति**) घात करता है।

अर्थ—जो पुरुष कच्चे अथवा अग्नि पर पके हुये मास के टुकडो को खाता है अथवा छूता है, वह पुरुष निरन्तर इकट्ठे हुये अनेक जाति के जीव-समूह के पिण्ड का घात करता है।

विशेषार्थ—पिछले श्लोक मे बताया था कि मास की सर्व अवस्थाओ मे उसी जाति के अनन्त सूक्ष्म जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते है। इस श्लोक मे बता रहे है कि जो पुरुष कच्चे अथवा पके हुये मास का भक्षण करता है, या हाथ से स्पर्श करता है तो उस मास मे इकट्ठे हुये जीव-समूह के पिण्ड का घात अवश्य करता है। इस प्रकार उन जीवो के घात से महान हिसा होती है। अत. हिसा के पाप से बचने के लिये मास का त्याग अवश्य करना चाहिये। इतना ही नही, अन्य जिन पदार्थों मे भी बहुत जोवो को उत्पत्ति होती है उन्हे भी त्यागना चाहिये।

मधु के दोष—

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मक भवति लोके।
भजति मधु मूढधीको य. स भवति हिंसकोऽत्यन्तम्॥
॥४-३३-६६॥

अन्वयार्थ—(**लोके**) इस लोक मे (**मधुशकलमपि**) शहद की एक बूंद भी (**प्राय**) बहुधा (**मधुकरहिंसात्मकं**) मधुमक्खियो की हिसा रूप (**भवति**) होती है, इसलिये (**य.**) जो (**मूढधीक**) मूढबुद्धि मनुष्य (**मधु**) शहद (**भजति**) खाता है (**स**) वह (**अत्यन्तम्**) अत्यन्त--घोर (**हिंसक**) हिसा करने वाला (**भवति**) होता है।

अर्थ—इस लोक मे शहद की एक बूंद भी बहुधा मक्खियो की हिसारूप होती है, इसलिये जो मूढबुद्धि मनुष्य शहद खाता है, वह अत्यन्त—घोर हिसा करने वाला है।

विशेषार्थ—मधुमक्खियाँ दिन भर घूम-घूम कर फूलो का रस चूसकर छत्ते मे वमन (उल्टी) करती रहती हैं। वह रस छत्ते मे सडता रहता है तथा उसमे असख्यात जीव उत्पन्न हो जाते हैं। शहद निकालने के लिये छत्ते को तोडकर निचोडते हैं, जिससे मधुमक्खियाँ, उनके अण्डे, बच्चे तथा रस मे उत्पन्न हुये असख्यात जीवो का घात होता है तथा उनका रस भी शहद मे मिल जाता है।

प्रथम तो मधुमक्खियो का वमन होने से शहद महाघृणित और अभक्ष्य पदार्थ है। दूसरे असख्यात जीवो की उत्पत्ति का स्थान होने से शहद-भक्षण मे उन जीवो की हिसा का दोष लगता है। तीसरे—शहद मे अनेक जीवो का रस मिला होने से मास-भक्षण का दोष लगता है। इस प्रकार शहद भक्षण घोर हिसा का कारण होने से त्यागने योग्य है।

स्वय टपके हुये मधु मे भी हिसा है—

स्वयमेव विगलित यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात्॥
॥ ४-३४-७० ॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो कोई (**मधुगोलात्**) मधु-छत्ते से (**छलेन**) छल से (**वा**) अथवा (**स्वयमेव**) अपने आप ही (**विगलित**) टपके हुये मधु का (**गृह्णीयात्**) ग्रहण करता है (**तत्रापि**) वहा भी (**तदाश्रय**) उसके आश्रयभूत (**प्राणिनां**) जीवो के (**घातात्**) घात से (**हिंसा**) हिसा (**भवति**) होती है।

अर्थ—जो कोई मधुछत्ते से, छल से अथवा अपने आप ही टपकते हुये मधु का ग्रहण करता है, वहाँ भी उसके आश्रयभूत जीवो के घात से हिसा होती है।

विशेषार्थ—कुछ लोग ऐसा मानते है कि आधुनिक पद्धति से पाली हुई मधुमक्खियो से अथवा स्वय बूंद-बूंद करके टपके हुये शहद के ग्रहण मे कोई दोष नही है। परन्तु ऐसी मान्यता सर्वथा गलत है।

रस के सडने से उसमे असख्यात जीवो की उत्पत्ति तो हर अवस्था में होती है। शहद के सेवन से उनका घात तो अनिवार्य है। इसलिये हर प्रकार के मधु का त्याग अहिसा के पालन के लिये अतिआवश्यक है।

मधु, मदिरा, मक्खन और मास को व्रती पुरुष न खाये—

मधु मद्य नवनीत पिशितं च महाविकृतयस्ताः।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र॥
॥ ४-३५-७१ ॥

अन्वयार्थ—(**मधु**) शहद (**मद्य**) मदिरा (**नवनीत**) मक्खन (**च**) और (**पिशित**) मास (**महाविकृतय**) महान दोषो से युक्त है (**तत्र**) उनमे (**तद्वर्णा**) उसी जाति और रग के (**जन्तवः**) जीव रहते हैं, इसलिये (**ता**) इन पदार्थों को (**व्रतिना**) व्रती पुरुष को (**न वल्भ्यन्ते**) नही खाना चाहिये।

अर्थ—शहद, मदिरा, मक्खन और मास महान दोषो से युक्त है, उनमे उसी जाति और रग के जीव रहते हैं, इसलिये व्रती पुरुषो को इन पदार्थों को नही खाना चाहिये।

विशेषार्थ—पिछले श्लोको मे शहद, मदिरा और मास-भक्षण क दोषो का विस्तार से वर्णन किया गया है। मक्खन की भी यही स्थिति है। ये सभी पदार्थ जीवो की उत्पत्ति का स्थान होने से दूषित—विकारी है। शहद मे, मदिरा मे, मक्खन मे तथा मास मे, उसी जाति और उसी रग के बहुत जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते है। इनके भक्षण से उन जीवो का घात होता है। इसलिये व्रती पुरुषो को इनका तथा अन्य भी पदार्थ जो जीव की उत्पत्ति के स्थान हैं, उनका त्याग अवश्य करना चाहिए।

पाँच उदुम्बर फल के दोष -

योनिरुदुम्बरयुग्म प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि।
त्रसजीवाना तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा॥
॥ ४-३६-७२ ॥

अन्वयार्थ—(**उदुम्बरयुग्म**) ऊमर, कठूमर (**प्लक्षन्यग्रोधपिप्पल-फलानि**) पाकर बड और पीपल वृक्ष के फल (**त्रस जीवानां**) त्रस जीवो की (**योनिः**) खान हैं (**तस्मात्**) इसलिये (**तद्भक्षणे**) उनके खाने मे (**तेषां**) उन त्रस जीवो की (**हिंसा**) हिंसा होती है।

अर्थ—ऊमर, कठूमर, पाकर, बड और पीपल वृक्ष के फल त्रस जीवो की खान हैं, इसलिये उनके खाने मे उन त्रस जीवो की हिंसा होती है।

विशेषार्थ—मधु, मास, मद्य और मक्खन के समान पाँच उदुम्बर फल अर्थात् ऊमर (गूलर), कठूमर (जगली गूलर-फनस इत्यादि), पाकर (अजीर) तथा बड और पीपल के फल भी अनन्त त्रसजीवो की उत्पत्ति के स्थान हैं, जिनका मरण भी निरन्तर वही होता रहता है। किसी-किसी फल मे तो उन्हे उडते हुये भी देखा जा सकता है। इन का भक्षण करने से भी त्रस जीवो की हिंसा होती है, अत अहिंसा पालन हेतु पच उदुम्बर फलो का त्याग भी करना चाहिये।

त्रस जीव रहित सूखे उदुम्बर फल के खाने मे भी हिंसा है—

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात्॥
॥ ४-३७-७३ ॥

अन्वयार्थ—(**यानि**) जो पाँच उदुम्बर फल (**कालोच्छिन्न-त्रसाणि**) काल बीतने पर त्रस जीव रहित (**शुष्काणि भवेयुः**) सूख गये हो (**तु पुनः**) तो फिर (**अपि**) भी (**तानि**) उनके (**भजत**) खाने वाले को (**विशिष्टरागादिरूपा**) विशेष रागादि रूप (**हिंसा**) हिंसा (**स्यात्**) होती है।

अर्थ—जो पाँच उदुम्बर फल काल बीतने पर त्रस जीव रहित सूख गये हो, तो फिर भी उनके खाने वाले को विशेष रागादि रूप हिंसा होती है—लगती है।

विशेषार्थ—जो उदुम्बर फल यथासमय सूख जाते हैं, वह त्रस जीवो से तो रहित हो जाते हैं परन्तु व्रती पुरुषो को उनको नहीं खाना चाहिये। क्योकि उनके खाने मे भी हिसा होती है। हिसा कैसे होती है ? --जैसे किसी ने पदार्थ को विकारी जान कर हरी अवस्था मे तो नही खाया, परन्तु पदार्थ मे रागभाव होने के कारण उसे सुखा कर खाया। यदि रागभाव न हो तो पदार्थ को सुखाकर क्यो खाये। किसी भी पदार्थ का ग्रहण रागभाव के विना नही होता। जहाँ राग-भाव है वहाँ हिसा अवश्य होती है। अत सुखाये हुए उदुम्बर फलो को खाने मे उनके प्रति 'राग विशेष' होने के कारण हिसा होती है। इसके अलावा सूखे हुये फलो मे त्रस जीवों के शरीर सूख जाते हैं, इसलिये भी अभक्ष्य है।

प्रश्न—यदि सूखी वस्तु मे भी दोष है, तो अन्न खाना भी हिसा है ? समाधान—नही, क्योकि गेहूँ-चना इत्यादि अन्न तो रागभाव के विना सहज ही अपने समय पर सूख जाते हैं। उनको तो पेट भरने तथा शरीर की स्थिति बनाये रखने के लिये विना किसी रागभाव के खाया जाता है। अत राग का अभाव होने से उनके खाने मे हिसा का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता।

अष्टमूल गुण धारी जीव ही उपदेश के पात्र है—

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः॥

॥ ४-३८-७४ ॥

अन्वयार्थ—(**अनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि**) दु खदायक, दुस्तर, और पाप के स्थान (**अमूनि**) इन (**अष्टौ**) आठ पदार्थों का (**परिवर्ज्य**) सर्वथा त्याग करके (**शुद्धधिय.**) निर्मल बुद्धि वाले पुरुष (**जिनधर्मदेशनाया.**) जैनधर्म के उपदेश के (**पात्राणि**) पात्र (**भवन्ति**) होते हैं।

अर्थ—दुःखदायक, दुस्तर और पाप के स्थान—इन आठ पदार्थों का सर्वथा त्याग करके निर्मल बुद्धि पुरुष जैनधर्म के उपदेश के पात्र होते हैं।

विशेषार्थ—मधु, मांस, मद्य तथा पाँच उदुम्बर फल—ये आठों पदार्थ विकारी होने से महादुःखमय और जिनका निवारण करना कठिन है, ऐसे महापाप के कारण है। इनके खाने से महान्‌हिंसा का पाप लगता है। इनका सर्वथा त्याग करने पर ही जीव में निर्मल बुद्धि उत्पन्न होती है, तभी वह जैनधर्म के उपदेश का पात्र होता है। इन आठ पदार्थों के त्याग को अष्ट मूलगुण धारण करना भी कहते है। जैसे 'मूल'—जड के बिना वृक्ष नही होता, वैसे ही अष्ट मूलगुण धारण किये बिना 'श्रावक' नही होता। अष्ट मूलगुण धारण करने के बाद ही वह श्रावक कहलाता है और तभी उपदेश का पात्र बनता है।

हिंसादि के त्याग करने का विधान—

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा ॥
॥ ४-३६-७५ ॥

अन्वयार्थ—(**औत्सर्गिकी निवृत्तिः**) उत्सर्गरूप अर्थात् सामान्य त्याग (**कृतकारितअनुमननैः**) कृत, कारित और अनुमोदन रूप तथा (**वाक्कायमनोभिः**) मन, वचन और काय के भेद से (**नवधा**) नौ प्रकार का (**इष्यते**) माना गया है (**तु**) और (**एषा**) यह (**अपवादिकी**) अपवादरूप त्याग (**विचित्ररूपा**) अनेक प्रकार है।

अर्थ—उत्सर्गरूप अर्थात् सामान्य त्याग कृत, कारित और अनुमोदन रूप तथा मन, वचन और काय के भेद से नौ प्रकार का माना गया है, और यह अपवाद रूप त्याग अनेक प्रकार है।

विशेषार्थ—हिंसादि पाँच पापों का त्याग दो प्रकार से होता है। एक 'उत्सर्ग' तथा दूसरा 'अपवाद' त्याग। उत्सर्ग अर्थात् सामान्य

त्याग—सर्वथा त्याग, मन, वचन, काय, कृत, कारित और अनुमोदना द्वारा नवकोटि से किया जाता है। मन से, वचन से, काय से पाप स्वयं न कराना, दूसरे से न कराना तथा करने वाले को भला नही मानना—ये नौ भेद नवकोटि कहलाते है। नवकोटि द्वारा किया गया पापो का त्याग ही उत्सर्ग/उत्कृष्ट त्याग है। कुछ कोटियो से त्याग करना 'अपवाद' त्याग है। इसके अनेक भेद है। शक्ति अनुसार जितना सभव हो त्याग अवश्य करना चाहिए।

हिसा त्याग के दो प्रकार—

धर्ममहिंसारूप सशृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम् ।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसा तेऽपि मुञ्चन्तु ॥
॥ ४-४०-७६ ॥

अन्वयार्थ—(**ये**) जो जोव (**अहिंसारूप**) अहिसारूप (**धर्मम्**) धर्म को (**सशृण्वन्त. अपि**) भले प्रकार सुनकर भी (**स्थावरहिंसाम्**) स्थावर जीवो की हिसा (**परित्यक्तुम्**) छोडने को (**असहाः**) असमर्थ हैं (**ते अपि**) वे जोव भी (**त्रसहिंसा**) त्रस जीवो को हिसा (**मुञ्चन्तु**) त्याग दे।

अर्थ—जो जीव अहिसारूप धर्म को भले प्रकार सुनकर भी स्थावर जीवो की हिसा छोडने को असमर्थ है, वे जोव भी त्रस जीवो की हिसा त्याग दे।

विशेषार्थ – जैनधर्म का मूल हिसा का त्याग है। वह त्याग दो प्रकार से होता है। एक तो सर्वथा त्याग तथा दूसरा एकदेश त्याग। सर्वथा त्याग तो दिगम्बर मुनिराज करते है, उसे अगीकार करना चाहिए। उसका स्वरूप भली प्रकार सुनकर भी कदाचित कषायो की प्रबलता होने के कारण सर्वथा त्याग न बन सके तो त्रस जीवो की हिसा का त्याग करके एकदेश श्रावक धर्म को अवश्य अगीकार करना चाहिए। ससारी जोवो के गति-जाति इत्यादि की अपेक्षा अनेक भेद है, परन्तु मुख्यरूप से 'स्थावर' और 'त्रस' के भेद से दो प्रकार के हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक

को एक स्पर्शन इन्द्रिय सहित होने से स्थावर जीव कहते हैं। दो इन्द्रिय से पाँच इन्द्रिय तक के जीवो को त्रस जीव कहते हैं। कौडी, शख, कीडी, मकोडा, मक्खी, भौंरा, मनुष्य इत्यादि इनके अनेक भेद हैं। स्थावर और त्रस जीवो के अनेक भेदो को भली प्रकार जानकर इनकी रक्षा करनी चाहिए।

श्रावक को स्थावर-हिसा मे भी स्वच्छन्द नही होना चाहिए —

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम्॥
॥ ४-४१-७७ ॥

अन्वयार्थ— (**सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्**) इन्द्रियो के विषयो को न्यायपूर्वक सेवन करने वाले (**गृहिणां**) गृहस्थो को (**स्तोकैकेन्द्रियघातात्**) अल्प एकेन्द्रिय के घात के अतिरिक्त (**शेषस्थावरमारणविरमणमपि**) शेष स्थावर जीवो के मारने का त्याग भी (**करणीयम्**) करने योग्य (**भवति**) है।

अर्थ—इन्द्रियो के विषयो को न्यायपूर्वक सेवन करने वाले गृहस्थो को अल्प एकेन्द्रिय घात के अतिरिक्त शेष स्थावर जीवो के मारने का त्याग भी करने योग्य है।

विशेषार्थ—एकदेश हिंसा का त्यागी श्रावक एकेन्द्रिय स्थावर जीवो की हिंसा का त्यागी नही होता। पचेन्द्रिय के विषयो का सेवन करने मे यतनाचारपूर्वक योग्य रीति से कार्य करते हुए भी एकेन्द्रिय स्थावर जीवो की हिंसा अनिवार्य है अर्थात् होती ही है। इस अनिवार्य हिसा के अतिरिक्त उन्हे अन्य स्थावर जीवो की हिंसा का त्याग अवश्य करना चाहिए। व्यर्थ और असावधानीपूर्वक कार्य करके स्थावर जीवों की भी हिंसा नहीं करनी चाहिये। इसका विशेष वर्णन अनर्थदण्ड के अन्तर्गत आगे करेंगे।

अहिंसाधर्म का पालन करने वाले सावधान हो—

अमृतत्वहेतुभूत परममहिंसारसायन लब्ध्वा ।
अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम् ।।

।। ४-४२-७८ ।।

अन्वयार्थ – (**अमृतत्वहेतुभूत**) अमृत अर्थात् मोक्ष का कारणभूत (**परमम्**) उत्कृष्ट (**अहिंसारसायन**) अहिंसारूपी रसायन को (**लब्ध्वा**) प्राप्त करके (**बालिशानाम्**) अज्ञानी जीवो का (**असमञ्जसम्**) अनुचित आचरण (**अवलोक्य**) देखकर (**आकुलै.**) व्याकुल (**न भवितव्यम्**) नही होना चाहिये ।

अर्थ—अमृत अर्थात् मोक्ष का कारणभूत उत्कृष्ट अहिंसारूप रसायन को प्राप्त करके अज्ञानी जीवो का अनुचित आचरण देखकर व्याकुल नही होना चाहिये ।

विशेषार्थ—कभी-कभी ऐसा भी देखने मे आता है कि कोई मिथ्यादृष्टि अधर्मी व्यक्ति हिंसा रूपी पाप कार्यों मे रत होते हुये भी अनेक प्रकार की धन-सम्पदा से सम्पन्न नाना सुखो को भोगता हुआ पाया जाता है । तथा अन्य कोई धर्मात्मा व्यक्ति अहिंसा धर्म का आचरण करते हुये भी नाना आपत्ति-विपत्तियो से घिरा हुआ देखा जाता है । यहाँ आचार्यश्री सावधान करते है कि धर्मात्मा जीवो को आकुल-व्याकुल नही होना चाहिए तथा अधर्मी जीवो की लुभावनी बाते सुनकर अथवा किसी प्रलोभन के कारण विचलित होकर अपने अहिंसामय धर्म को नही छोडना चाहिए । वह अधर्मी जीव अपने पूर्व उपार्जित पुण्य कर्मों का फल भोग रहा है । वर्तमान मे जो पापरूप कर्म कर रहा है, उनका फल तो भविष्य मे दुःखमय ही होगा । अत कर्मों की पाप/पुण्य उदय अवस्था को जानकर/विचार कर किसी भी धर्मात्मा जीव को अहिंसामय धर्म जो कि मोक्ष का कारणभूत है, उसका त्याग कदापि नही करना चाहिये ।

पुन. सावधान करते हैं—

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति ।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्या ॥
॥ ४-४३-७९ ॥

अन्वयार्थ—(**भगवद्धर्म.**) जिनेन्द्र भगवान् का कहा हुआ धर्म (**सूक्ष्म**) सूक्ष्म है, अत. (**धर्मार्थं**) धर्म के निमित्त से (**हिंसने**) हिंसा करने मे (**दोष**) दोष (**नास्ति**) नही है (**इति धर्ममुग्धहृदयैः**) ऐसा धर्म मे मूढ़ अर्थात् भ्रमरूप हृदय वाले (**भूत्वा**) होकर (**शरीरिण**) शरीरधारी जीवो को (**जातु**) कभी भी (**न हिंस्याः**) नही मारना चाहिए ।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् का कहा हुआ धर्म सूक्ष्म है, अत 'धर्म के निमित्त से हिसा करने मे दोष नही है'—ऐसा धर्म मे मूढ अर्थात् भ्रमरूप हृदयवाले होकर शरीरधारी जीवो को कभी भी नही मारना चाहिये ।

विशेषार्थ—यदि कोई अज्ञानी अधर्मी जीव ऐसा कहे कि 'जिनेन्द्र भगवान् कथित धर्म तो बहुत गूढ और सूक्ष्म है, और जगह तो हिसा करना पापरूप ही है, परन्तु यज्ञादि धर्म कार्यों के निमित्त से जीवो की आहुति देने मे कोई हिसा नही होती ।' इस प्रकार के धर्मविरुद्ध कथन सुनकर धर्मात्मा पुरुषो को धोखे मे नही आना चाहिए, क्योकि जहाँ हिसा है वहाँ धर्म कदापि नही हो सकता । इसलिये धर्म के स्वरूप को न जानते हुये, मूढतावश धर्म के नाम पर हिंसा नहीं करनी चाहिये ।

यहाँ प्रश्न होता है कि मन्दिर-निर्माण, पूजा-प्रतिष्ठा आदि कार्यों मे भी तो हिसा होती है, उनमे धर्म है या नही ? समाधान—यदि यह कार्य यतनाचारपूर्वक सावधानी से धर्मबुद्धिवश किये जायें तो पुण्य-बन्ध के कारण हैं और यदि यतनाचार रहित लापरवाही से किये जायें अथवा मान कषाय के अधीन होकर केवल मान-प्रतिष्ठा के लिये किये जाये तो अवश्य पाप रूप ही हैं । यद्यपि इन कार्यों मे

आरम्भ-जनित हिसा होती है, परन्तु वह हिसा धर्मानुराग से होने वाले पुण्यबन्ध की अपेक्षा नगण्य है। पुण्यबन्ध विशेष होता है। इसके अतिरिक्त जो मनुष्य उपर्युक्त कार्यो मे अपना धन व्यय करता है वह अन्तरग मे लोभ कषाय का त्याग तो करता ही है। हिसा का मूल कारण तो कषाय है, अत मन्दिरादि-निर्माण तथा पूजा-प्रतिष्ठा आदि कार्यों मे कषाय का त्याग होने से पुण्य रूपी धर्म ही होता है।

देवी-देवताओ के निमित्त से भी हिसा नही करनी चाहिये—

धर्मो हि देवताभ्य· प्रभवति ताभ्य. प्रदेयमिह सर्वम् ।
इति दुर्विवेककलिता धिषणा न प्राप्य देहिनो हिंस्या ॥

॥ ४-४४-८० ॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय ही (**धर्म·**) धर्म (**देवताभ्य**) देवो से (**प्रभवति**) उत्पन्न होता है, अत (**इह**) इस लोक मे (**ताभ्य**) उनके लिये (**सर्वम्**) सब कुछ (**प्रदेयम्**) दे देना चाहिए (**इति**) ऐसे (**दुर्विवेककलिता**) अविवेक से ग्रसित (**धिषणा**) बुद्धि (**प्राप्य**) प्राप्त करके (**देहिन·**) देहधारी जीवो को (**न हिंस्या**) नही मारना चाहिये।

अर्थ—"निश्चय ही धर्म देवो से उत्पन्न होता है, अत इस लोक मे उनके लिये सब कुछ दे देना चाहिए"—ऐसे अविवेक से ग्रसित बुद्धि प्राप्त करके देहधारी जीवो को नही मारना चाहिए।

विशेषार्थ कई अज्ञानी अधर्मी लोगो का ऐसा कथन है कि 'धर्म तो देवी-देवताओ से उत्पन्न होता है, अत उन्हे प्रसन्न करने/रखने के लिए भैसा, मुर्गा, बकरा अथवा मनुष्य की बली दे देनी चाहिए।' उनका यह कथन महामूर्खता तथा अविवेक से भरा हुआ है। पर जीवो को मरवाने अथवा मारने मे किसी का भला कैसे हो सकता है। पुण्यरूप 'देव' पद पर आसीन कौन ऐसे देवी-देवता है जो मूक निर्दोष प्राणियो के रक्त के प्यासे होगे अथवा उनके घात से प्रसन्न होगे ? अर्थात् कोई नही है। देवी-देवताओ के नाम पर जीवो का

घात करना महान भ्रान्ति है, महान हिंसा है अत घोर पाप का कारण है। प्राणी-घात में कभी भी धर्म नही हो सकता। इसलिये मूढ़तावश देवी-देवताओ के निमित्त से भी हिंसा नही करनी चाहिए।

परजीव के घात से अपना भला नही हो सकता—

पूज्यनिमित्त घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति सम्प्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम् ॥
॥ ४-४५-८१ ॥

अन्वयार्थ—(**पूज्यनिमित्त**) पूज्य पुरुषो के लिये (**छागादीनां**) बकरा इत्यादि जीवो का (**घाते**) घात करने मे (**कः अपि**) कोई भी (**दोषः**) दोष (**नास्ति**) नहीं है (**इति**) ऐसा (**संप्रधार्य**) विचार कर (**अतिथये**) अतिथि अथवा शिष्ट पुरुषो के लिए (**सत्त्व-संज्ञपनम्**) जीवो का घात (**न कार्यं**) नही करना चाहिए।

अर्थ—'पूज्य पुरुषो के लिये बकरा इत्यादि जीवो का घात करने मे कोई भी दोष नही है'—ऐसा विचार करके अतिथि अथवा शिष्ट पुरुषो के लिये जीवो का घात नही करना चाहिए।

विशेषार्थ—स्मृतिकारो का ऐसा मत है कि अतिथि-सत्कार के लिये अथवा घर मे आये हुए पूज्य पुरुषो के भोजन के लिए बकरा अथवा बैल का घात करने मे कोई पाप नही है। उनका ऐसा कथन सर्वथा धर्म-विरुद्ध है तथा महापाप का कारण है। अतिथि-सत्कार के निमित्त हिंसा करना भी महान अज्ञानता है। हिंसा तो हिंसा ही है चाहे वह किसी भी निमित्त से क्यो न की जाये। अत अतिथि-सत्कार के लिये भी प्राणीघात नही करना चाहिये, क्योकि हिंसारूप होने से वह भी पाप रूप हीहै।

चाहे जीव छोटा हो या बडा, एक हो या अनेक, किसी जीव की हिंसा नही करनी चाहिये—

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम्।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु ॥
॥ ४-४६-८२ ॥

अन्वयार्थ—(**बहुसत्त्वघातजनितात्**) बहुत से जीवों के घात से उत्पन्न हुए (**अशनात्**) भोजन की अपेक्षा (**एकसत्त्वघातोत्थम्**) एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन (**वरम्**) अच्छा है (**इति**) ऐसा (**आकलय्य**) विचार कर (**जातु**) कभी भी (**महासत्त्वस्य**) बडे त्रस जीव का (**हिंसनं**) घात (**न कार्यं**) नही करना चाहिये ।

अर्थ—'बहुत से जीवो के घात से उत्पन्न हुए भोजन की अपेक्षा एक जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन अच्छा है'—ऐसा विचार करके कभी भी बडे त्रस जीव का घात नही करना चाहिये ।

विशेषार्थ—कोई ऐसा कहे कि अन्न-फलादि के आहार मे तो बहुत से जीव मरते हैं, इसलिये एक बडा जीव (गाय-भैंस आदि) मारकर खाना अच्छा है। उस अज्ञानी, अधर्मी जीव का यह कुतर्क महामूर्खतापूर्ण है । हिंसा तो प्राणघात से होती है। एकेन्द्रिय जीवो की अपेक्षा द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय जीवो के द्रव्यप्राण तथा भाव-प्राण अधिक-अधिक पाये जाते हैं, अत उनके घात मे क्रमशः असख्यात गुणा पाप है । इसके अतिरिक्त दो-इन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीवो को मारकर खाने मे तो मासाहार का दोष लगता है। अन्न और शाकाहार को त्यागकर छोटे-बडे पशु-पक्षियो को मारकर भक्षण करना उचित नही ।

हिंसक जीवो का भी घात नही करना चाहिये—

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन ।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम् ॥
॥ ४-४७-८३ ॥

अन्वयार्थ—(**अस्य**) इस (**एकस्य एव**) एक ही (**जीवहरणेन**) जीव का घात करने से (**बहूनाम्**) बहुत जीवो की (**रक्षा भवति**) रक्षा होती है (**इति मत्वा**) ऐसा मानकर (**हिंस्रसत्त्वानाम्**) हिंसक जीवो की भी (**हिंसनं**) हिंसा (**न कर्त्तव्यम्**) नही करनी चाहिए ।

अर्थ—'इस एक ही जीव का घात करने से बहुत जीवो की रक्षा होती है'—ऐसा मानकर हिंसक जीवो को भी हिंसा नही करनी चाहिये ।

विशेषार्थ—साँप, बिच्छु, सिंह, चीता, भेडिया इत्यादि अनेक हिंसक जीव हैं जो दूसरे जीवो का घात करते हैं अथवा काटकर शारीरिक पीडा पहुँचाते हैं, उनको मार डालने से अन्य अनेक जीवो की रक्षा हो जायेगी—ऐसा श्रद्धान कभी नही करना चाहिये । हिंसा करना ही पाप है । अगर हम हिंसक प्राणियो की उपर्युक्त अभिप्राय से भी हिंसा करते हैं तो भी हमे हिंसा का पाप ही लगेगा । इसमे पुण्यबन्ध का अंश भी नही है । जो जीव हिंसा करेगा तो उसका पाप वह स्वय भोगेगा, हम उसकी हिंसा करके पाप के भागी क्यो बनें । इसके अतिरिक्त यदि हम हिंसक जीवो की हिंसा इसलिये करे कि वे अन्य जीवो की हिंसा करते हैं तो ऐसी अवस्था मे हम स्वय महाहिंसक सिद्ध होगे । हिंसक प्राणियो को मारना भी हिंसा है, अत· हिंसक प्राणियो का भी घात नही करना चाहिये ।

दयाभाव से भी हिंसा न करे—

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरु पापम् ।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीया· शरीरिणो हिंस्राः ॥

॥ ४-४८-८४ ॥

अन्वयार्थ—(**बहुसत्त्वघातिनः**) बहुत जीवो के घातक (**अमी**) ये जीव (**जीवन्तः**) जीवित रहेगे तो ((**गुरु पापम्**) बहुत पाप (**उपार्जयन्ति**) उपार्जित करेंगे (**इति**) इस प्रकार की (**अनुकम्पां कृत्वा**) दया करके (**हिंस्राः शरीरिणः**) हिंसक जीवो को (**न हिंसनीयाः**) नही मारना चाहिये ।

अर्थ—'बहुत जीवो के घातक ये जीव जीवित रहेगे तो बहुत पाप उपार्जित करेंगे'—इस प्रकार की दया करके हिंसक जीवो को नही मारना चाहिये ।

विशेषार्थ—'बहुत से प्राणियो का घात करने वाले ये शिकारी, चिडीमार इत्यादि अनेक हिंसक जीव जब तक जीवित रहेंगे, तब तक हिंसा करके बहुत पाप-उपार्जन करेंगे, अत इन्हे पापकर्म से बचाने के लिये मार देना चाहिये'—ऐसे दयाभाव से भी जीवो को नही मारना चाहिये। पापक्रिया का फल वे जीव स्वयं भोगेंगे। हमे उनकी हिसा करके पाप का भागी नही बनना चाहिये। अगर सभव हो तो उनकी पापक्रिया छुडा देनी चाहिये।

दु खो से पीडित जीवो को उनके दु ख दूर करने की वासना (मिथ्या विचार) से भी नही मारना चाहिये—

बहुदु·खासञ्ज्ञपिता प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दु·खिनोऽपि हन्तव्याः॥
॥ ४-४६-८५ ॥

अन्वयार्थ –(तु) और (**बहुदु·खासंज्ञपिता·**) अनेक दु खो से पीडित जीव (**अचिरेण**) थोडे ही समय मे (**दु खविच्छित्तिम्**) दु खो से छुटकारा (**प्रयान्ति**) पा जावेगे (**इति वासनाकृपाणीम्**) ऐसी वासनारूपी छुरी (**आदाय**) लेकर (**दु.खिनः अपि**) दु खी जीवो को भी (**न हन्तव्याः**) नही मारना चाहिये।

अर्थ—'और अनेक दु खो से पीडित जीव थोडे ही समय मे दु खो से छुटकारा पाजावेगे'—ऐसी वासना रूपी छुरी लेकर दु खी जीवो को भी नही मारना चाहिये।

विशेषार्थ—मान लो कोई जीव रोग की असह्य वेदना से, दरिद्रता से अथवा किसी और कारण से नाना दु खो को भोग रहा है, उसकी उस दु·खमय अवस्था को देखकर करुणावश ऐसा कभी नही सोचना चाहिये कि यदि इस जीव को मार दें तो यह दु खो से छूट जायेगा। यदि उस जीव की आयु शेष है तो हमारे प्रयत्न करने पर भी उसका मरण नही हो सकता, परन्तु उसको मारने का परिणाम करने से हमे हिंसा का पाप अवश्य लगेगा। यदि उसका मरण

हो भी गया तो उस मरण मात्र से वह दु:खो से नही छूट सकता। जो पापकर्म शेष रह जायेंगे वह तो उसको आगामी भव में भी दु ख रूप फल देंगे, अत दयादृष्टि से भी किसी का घात नहीं करना चाहिये। यदि जीव के प्रति करुणा भाव उत्पन्न हुआ है तो यथाशक्ति उसके दु ख दूर करने मे सहायक कारण बनना चाहिये। दु:ख-सुख तो कर्माधीन हैं।

सुखी जीवो का भी घात नही करना चाहिये—

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिना घाताय नादेयः॥
॥ ४-५०-८६ ॥

अन्वयार्थ—(**सुखावाप्तिः**) सुख की प्राप्ति (**कृच्छ्रेण**) कष्ट से होती है, इसलिये (**हताः**) मारे हुए (**सुखिनः**) सुखी जीव (**सुखिनः एव**) परलोक मे सुखी ही (**भवन्ति**) होगे (**इति**) ऐसी (**तर्क-मण्डलाग्रः**) कुतर्क रूपी तलवार (**सुखिनां घाताय**) सुखी जीवो के घात करने के लिये (**नादेय**) अगीकार नही करनी चाहिये।

अर्थ—'सुख की प्राप्ति कष्ट से होती है, इसलिये मारे हुये सुखी जीव परलोक मे सुखी ही होगे'—ऐसी कुतर्करूपी तलवार सुखी जीवों के घात करने के लिये अगीकार नही करनी चाहिये।

विशेषार्थ—'सुख की प्राप्ति महाकठिन है, इसलिए सुखी अवस्था मे जीवो को मार दिया जाये तो वे परलोक मे भी सुखी रहेगे'—ऐसी दुर्बुद्धि/कुतर्क से भी जीवो का घात नही करना चाहिये। संसार मे कोई ऐसी शक्ति नही जो अन्य जीव को सुखी या दु खी बना सके। प्रत्येक प्राणी का सुख-दु ख उसके कर्मों के अधीन है। जैसा शुभाशुभ कर्मों का उदय होगा, उसी के अनुसार उसे सुख-दु ख भोगना पड़ेगा। बाह्य निमित्त भी उन्हे वैसे ही मिल जाते हैं। अतः जीव को सुखी बनाये रखने के अभिप्राय से भी उसका घात नही करना चाहिये।

उसको मारने के परिणाम मात्र से ही हिंसा का दोष उत्पन्न होता है।

'हमारा गुरु उच्च पद को पा जायेगा'—इस भावना से गुरु का घात नहीं करना चाहिये—

उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्त्तनीयं सुधर्ममभिलषता ॥
॥ ४-५१-८७ ॥

अन्वयार्थ—(**सुधर्मम् अभिलषता**) सत्यधर्म के अभिलाषी (**शिष्येण**) शिष्य द्वारा (**भूयसः अभ्यासात्**) अधिक अभ्यास से (**उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य**) ज्ञान और सुगति करने में कारणभूत समाधि के सार को प्राप्त करने वाले (**स्वगुरोः**) अपने गुरु का (**शिरः**) मस्तक (**न कर्त्तनीय**) नहीं काटना चाहिये।

अर्थ—सत्यधर्म के अभिलाषी शिष्य द्वारा अधिक अभ्यास से ज्ञान और सुगति करने में कारणभूत समाधि के सार को प्राप्त करने वाले अपने गुरु का मस्तक नहीं काटना चाहिये।

विशेषार्थ—'ध्यान में लीनता अथवा समाधि की प्राप्ति महान अभ्यास से प्राप्त होती है, इस समय हमारा गुरु समाधि में लीन है, अभ्यास भी बहुत किया है यदि इनके मस्तक को काटकर इनके प्राणों का अन्त कर दिया जाये तो वे उच्च पद को प्राप्त होंगे'—ऐसा मिथ्याश्रद्धान करके शिष्य को अपने गुरु का घात नहीं करना चाहिये। ऐसा विचार करना महामूर्खता तथा पाप है। गुरु ने साधना की है, उसका फल तो वह भविष्य में पावेगा ही, उसके लिये किसी दूसरे के सहयोग की आवश्यकता नहीं है। हम किसी की हिंसा करके पाप के भागी क्यों बनें।

'खारपटिक' मत की मिथ्या मान्यता के वश भी हिंसा नही करनी चाहिये —

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम् ।
झटितिघटचटकमोक्षं श्रद्धेय नैव खारपटिकानाम् ।।
।। ४-५२-८८ ।।

अन्वयार्थ --(**धनलवपिपासितानां**) थोडे से धन के प्यासे और (**विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्**) शिष्यो को विश्वास दिलाने के लिये दिखाने वाले (**खारपटिकानाम्**) खारपटिको का (**झटितिघटचटक-मोक्ष**) शीघ्र घडा फूटने से चिडिया के मोक्ष की तरह मोक्ष का (**नैव-श्रद्धेय**) कभी श्रद्धान नही करना चाहिये ।

अर्थ—थोडे से धन के प्यासे और शिष्यो को विश्वास दिलाने के लिए दिखाने वाले, खारपटिको का शीघ्र घडा फूटने से चिडिया के मोक्ष की तरह मोक्ष का कभी श्रद्धान नही करना चाहिये ।

विशेषार्थ—प्राचीन काल मे 'खारपटिक' नाम का कोई मत था। उनके गुरुओ का कथन था कि जैसे किसी घडे मे चिडिया बन्द है, यदि उस घडे को फोड दिया जाये तो चिडिया बन्धनमुक्त हो जायेगी, वैसे ही आत्मा इस शरीर मे बन्द है, यदि शरीर का नाश कर दिया जाये तो आत्मा बन्धनमुक्त हो जायेगी, अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी। इस प्रकार का झूठा विश्वास दिलाकर वे शिष्यो के शिर छेद देते थे और उनकी धन-सम्पदा हथिया लेते थे। आचार्य श्री धर्मात्मा जीवो को उपदेश दे रहे हैं कि धर्म की आड लेकर ठगने वाले ऐसे पाखडी एव लोभी गुरुओ से सावधान रहना चाहये, क्योकि ऐसा मिथ्याश्रद्धान हिंसा का कारण है। कर्मों से सर्वथा छूटे विना आत्मा को मोक्ष नही हो सकता।

अन्य की क्षुधापूर्ति के लिये अपने शरीर का भी घात नही करना चाहिये —

दृष्ट्वाऽपर पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम् ।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्माऽपि ।।
।। ४-५३-८९ ।।

अन्वयार्थ—(**च**) और (**अशनाय**) भोजन के लिये (**पुरस्तात्**) सामने (**आयान्तम्**) आये हुये (**अपर**) अन्य (**क्षामकुक्षिम्**) भूखे पुरुष को (**दृष्ट्वा**) देखकर (**निजमांसदानरभसात्**) अपने शरीर का मास देने की आतुरता से (**आत्माऽपि**) अपना भी (**न आलभनीयः**) घात नही करना चाहिये।

अर्थ—और भोजन के लिये सामने आये हुए अन्य भूखे पुरुष को देखकर अपने शरीर का मास देने की आतुरता से अपना भी घात नही करना चाहिये।

विशेषार्थ—भूख से पीडित जीवो को भोजन कराना करुणा दान है, परन्तु उनके क्षुधा-निवारण के लिये अपने शरीर का मास काट-कर देना/खिलाना महान अज्ञानता है। प्रथम तो मासभक्षी जीव को दान देना ही नही चाहिये, दूसरे मास का दान निंद्य तथा धर्मविरुद्ध है, तीसरे अपने शरीर का मास काटने से आत्मघात हो सकता है, जोकि महापाप रूप कर्म-बन्ध का कारण है। अत धर्म को भली प्रकार सोच-समझकर विवेकपूर्वक पालन करना चाहिये। धर्म के नाम पर भी हिंसा करना उचित नही।

जैनमत के रहस्य को जानकर जीव मूढता को प्राप्त नही होता—

को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्य गुरून्।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः॥
॥ ४-५४-९० ॥

अन्वयार्थ—(**नयभङ्गविशारदान्**) नयके भगो को जानने मे प्रवीण (**गुरून्**) गुरुओ की (**उपास्य**) उपासना करके (**विदितजिनमत-रहस्य.**) जिनमत के रहस्य को जानने वाला (**को नाम**) ऐसा कौन (**विशुद्धमतिः**) निर्मल बुद्धिधारी है जो (**अहिंसां श्रयन्**) अहिंसा का आश्रय लेकर (**मोह**) मूढता को (**विशति**) प्राप्त होगा? अर्थात् कोई नही होगा।

अर्थ—नय के भगो को जानने में प्रवीण गुरुओं की उपासना करके जिनमत के रहस्य को जानने वाला, ऐसा कौन निर्मल बुद्धिधारी हैं, जो अहिसा का सहारा लेकर मूढ़ता को प्राप्त होगा ? अर्थात् कोई नही होगा।

विशेषार्थ—पिछले कुछ श्लोको मे कुतर्की मिथ्यादृष्टियो के नाना मतो का उल्लेख किया गया है। आचार्य श्री ने प्रत्येक स्थान पर सावधान किया है कि ऐसे कुगुरुओ के बहकाने मे आकर उनके मिथ्यामतों का श्रद्धान नही करना चाहिये। जीवो को अपने भले-बुरे तथा हेयोपादेय का ज्ञान-श्रद्धान गुरु के उपदेश से ही होता है। जिस जीव ने नयभगो के ज्ञाता तथा जैनधर्म के सिद्धान्त मे प्रवीण, विद्वान गुरुओ की सेवा-उपासना करके उनसे अहिसा-हिसा के वास्तविक स्वरूप एवं उनके गूढ रहस्य को समझकर सर्वज्ञ वीतराग कथित दयाधर्म को अगीकार किया है, वह जीव कदापि भ्रम मे नही पड सकता। अत बहुत ही सावधानी तथा दृढतापूर्वक अहिसामयी दयाधर्म का पालन करना चाहिये।

सत्यव्रत का कथन—

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वार ॥
॥ ४-५५-९१ ॥

अन्वयार्थ—(**यत्**) जो (**किमपि**) कुछ भी (**प्रमादयोगात्**) प्रमाद-कषाय के योग से (**इदं**) यह (**असदभिधानं**) अन्यथारूप वचन (**विधीयते**) कहने मे आता है (**तत्**) उसे (**अनृतम् अपि**) निश्चय ही असत्य (**विज्ञेयं**) जानना चाहिए (**तद्भेदाः**) उसके भेद (**चत्वारः**) चार (**सन्ति**) हैं।

अर्थ—जो कुछ भी प्रमाद—कषाय के योग से, यह अन्यथा रूप वचन कहने में आता है, उसे निश्चय ही असत्य जानना चाहिये। उसके चार भेद हैं।

विशेषार्थ—'असदभिधानमनृतम्' — असत् वचन को अनृत (असत्य) कहते हैं। अथवा जो पदार्थ नहीं है उसका कथन करना असत्य कहलाता है। जो वचन अपने को तथा दूसरे को पीडा पहुँचाने वाला हो, प्रमाद के योग से उत्पन्न हुआ जो अन्यथा रूप वचन हो वह असत्य है। असत्य वचन के चार भेद हैं। आचार्यश्री स्वय आगे के श्लोको मे उनका स्वरूप कहेगे।

असत्य वचन का प्रथम भेद—

स्वक्षेत्रकालभावै सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु।
तत्प्रथममसत्य स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र॥
॥ ४-५६-९२ ॥

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय ही (**यस्मिन्**) जिस वचन मे (**स्वक्षेत्र-कालभावै**) अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से (**सदपि**) विद्यमान होने पर भी (**वस्तु**) वस्तु का (**निषिध्यते**) निषेध किया जाता है (**तत्**) वह (**प्रथमम्**) पहला (**असत्य**) असत्य (**स्यात्**) है (**यथा**) जैसे (**अत्र**) यहा (**देवदत्त**) देवदत्त (**नास्ति**) नही है।

अर्थ—निश्चय ही जिस वचन मे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विद्यमान होने पर भी वस्तु का निषेध किया जाता है, वह पहला असत्य है। जैसे- 'यहाँ देवदत्त नही है'।

विशेषार्थ—अस्तित्व रूप पदार्थ का निषेध करना अर्थात् अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से जो वस्तु अस्तिरूप (विद्यमान) हो उसे नास्ति रूप (अविद्यमान) कहना असत्य का प्रथम भेद है। जैसे —देवदत्त के विद्यमान होते हुए भी उसका निषेध करके यह कहना 'यहाँ देवदत्त नही है'। यहाँ देवदत्त के अस्तिरूप होते हुए भी नास्ति रूप जो कथन किया गया है, वही असत्य वचन है। इस प्रकार किसी भी सत् रूप द्रव्य का निषेध करना असत्य वचन का पहला भेद है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का स्पष्टीकरण—देवदत्त नाम का पुरुष 'द्रव्य' है। उसने जितनी जगह घेर रक्खी है वह उसका 'क्षेत्र'

है। जिस काल में द्रव्य जिस रीति से विद्यमान है वह उसका 'काल' है। द्रव्य का निजभाव (परिणमन) उसका 'भाव' है (अर्थात् जहाँ जिस रूप मे द्रव्य विद्यमान है)।

असत्य वचन का दूसरा भेद—

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथाऽस्ति घटः॥

॥४-५७-९३॥

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय ही (**यत्र**) जिस वचन मे (**तैः परक्षेत्रकालभावै**) उन परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से (**असदपि**) अविद्यमान होने पर भी (**वस्तुरूप**) वस्तु का स्वरूप (**उद्भाव्यते**) प्रकट किया जाये (**तत्**) वह (**द्वितीय**) दूसरा (**अनृत**) असत्य है (**यथा**) जैसे (**अस्मिन्**) यहाँ (**घट अस्ति**) घडा है।

अर्थ— निश्चय ही जिस वचन मे, उन परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अविद्यमान होने पर भी वस्तु का स्वरूप प्रकट किया जाये वह दूसरा असत्य है। जैसे—'यहाँ घडा है'।

विशेषार्थ—परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से जो वस्तु नास्ति रूप है उसे अस्ति रूप कहना असत्य का दूसरा भेद है। अर्थात् जो वस्तु/द्रव्य अविद्यमान है उसे विद्यमान कहना। जैसे—घडे के न रहने पर भी यह कहना कि 'यहाँ घडा है'। इस प्रकार किसी भी असत् रूप द्रव्य को सत्रूप कहना असत्य वचन का दूसरा भेद है।

असत्य वचन का तीसरा भेद—

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः॥

॥४-५८-९४॥

अन्वयार्थ—(**च**) और (**यस्मिन्**) जिस वचन में (**स्वरूपात्**) अपने स्वरूप-चतुष्टय से (**सदपि**) विद्यमान होने पर भी (**वस्तु**) पदार्थ (**पररूपेण**) अन्य स्वरूप से (**अभिधीयते**) कहा जाये उसे (**इदं**) यह (**तृतीयं अनृतम्**) तीसरा असत्य (**विज्ञेयं**) जानो (**यथा**) जैसे (**गौः**) बैल को (**अश्वः**) घोडा है (**इति**) ऐसा कहना।

अर्थ—और जिस वचन मे अपने स्वरूप—स्वचतुष्टय से विद्यमान होने पर भी पदार्थ अन्य रूप से कहा जाये, उसे तीसरा असत्य जानो। जैसे—बैल को 'घोडा है'—ऐसा कहना।

विशेषार्थ—कोई वस्तु अपने स्वरूप—स्वचतुष्टय (स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) से विद्यमान है, परन्तु उसे उसरूप न कहकर उसका अन्यथा कथन करना असत्य का तीसरा भेद है। अर्थात् जो वस्तु जिस स्वरूप है, उसे वैसी न कहकर अन्य रूप कहना। जैसे—बैल का 'घोडा कहना'। यहाँ बैल को अन्य द्रव्य रूप कहा गया, यह असत्य का तीसरा भेद है।

असत्य वचन का चौथा भेद—

गर्हितमवद्यसयुतमप्रियमपि भवति वचनरूप यत्।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृत तुरीय तु॥

॥ ४-५६-६५ ॥

अन्वयार्थ—(**इद**) यह (**तुरीय**) चौथा (**अनृत**) असत्य (**सामान्येन**) सामान्य रूप से (**गर्हितम्**) गर्हित (**अवद्यसयुतम्**) पाप सहित (**तु**) और (**अप्रिय अपि**) अप्रिय भी—इस तरह (**त्रेधा**) तीन प्रकार का (**मतम्**) माना गया है (**यत्**) जो कि (**वचनरूपं**) वचन रूप (**भवति**) है।

अर्थ—यह चौथा असत्य (वचन) सामान्य रूप से गर्हित, पाप सहित और अप्रिय भी—इस तरह तीन प्रकार का माना गया है, जो कि वचन रूप है।

विशेषार्थ—चौथा असत्य वचन तीन प्रकार का है—(१) गर्हित—निन्दा के वचन बोलना, (२) पाप युक्त/हिंसा के वचन बोलना तथा (३) अप्रिय—दूसरे को बुरे लगने वाले वचन बोलना। इनका स्वरूप आगे के श्लोकों मे कहा गया है।

गर्हित असत्य का स्वरूप—

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम्॥
॥ ४-६०-९६ ॥

अन्वयार्थ—(**पैशून्यहासगर्भं**) दुष्टता अथवा चुगलीरूप हास्य वाला (**कर्कशं**) कठोर (**असमञ्जसं**) मिथ्याश्रद्धान वाला (**च**) और (**प्रलपितं**) प्रलाप रूप तथा (**अन्यदपि**) अन्य भी (**यत्**) जो (**उत्सूत्रं**) शास्त्रविरुद्ध वचन है (**तत्सर्वं**) उन सभी को (**गर्हितं**) निंद्यवचन (**गदितम्**) कहा गया है।

अर्थ—दुष्टता अथवा चुगलीरूप हास्यवाला, कठोर, मिथ्याश्रद्धान वाला और प्रलापरूप—बकवादरूप तथा अन्य भी जो शास्त्र-विरुद्ध वचन हैं, उन सभी को निंद्यवचन कहा गया है।

विशेषार्थ—जो वचन कषाय के सद्‌भाव के कारण दुष्टता रूप हो, अन्य जीव का बुरा करने वाले चुगली रूप हो, हास्यमिश्रित (मस्खरी रूप) हो, कठोर—सुनने मे बुरे लगें, मिथ्याश्रद्धान—विपरीत श्रद्धान कराने वाले हो, बेकार बकवाद रूप हो तथा अन्य जो भी शास्त्र-विरुद्ध वचन है—वे सब गर्हित वचन हैं। ऐसे वचन स्व और पर मे हिंसा उत्पन्न करते हैं, अत व्रती पुरुष को इनका त्याग करना चाहिये।

अवद्यसयुक्त असत्य का स्वरूप—

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्त्तन्ते॥
॥ ४-६१-९७ ॥

अन्वयार्थ—(**छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि**) छेदन, भेदन, मारण, घसीटना, व्यापार या चोरी आदि के जो वचन हैं (**तत्**) वे सब (**सावद्यं**) पापयुक्त वचन है (**यस्मात्**) क्योंकि वे (**प्राणिवधाद्या**) प्राणी-हिंसा आदि पाप रूप (**प्रवर्तन्ते**) प्रवर्तन कराते है।

अर्थ—छेदन के, भेदन के, मारण के, घसीटने के, (हिंसक) व्यापार करने के जो वचन है, वह सब पापयुक्त वचन हैं, क्योंकि वे प्राणी-हिंसा आदि पापरूप प्रवर्तन कराते है अर्थात् पापरूप कार्य मे लगाते हैं।

विशेषार्थ—जिन वचनो को सुनकर अन्य जीव अवद्य—पापरूप कार्यों मे लगे उन्हे 'सावद्य' वचन कहते हैं। अन्य जीवो को नाक आदि छेदने का, अंग काटने का, घसीटने का अथवा मारने का या हिंसक व्यापार करने का उपदेश देना, चोरी करने का तरीका बताना —ये सब वचन पापयुक्त वचन है, क्योंकि ऐसे वचनो को सुनकर जीव पापरूप हिंसक कार्यों मे लगते है। यह सभी सावद्य (पाप) सहित असत्यवचन का स्वरूप है। इनसे प्राणियो का घात होता है, इसलिए व्रती पुरुष को इनका त्याग करना चाहिये।

अप्रिय असत्य वचन का स्वरूप—

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम्॥

॥ ४-६२-६८ ॥

अन्वयार्थ—(**यत्**) जो वचन (**परस्य**) दूसरे जीव को (**अरतिकरं**) अप्रीतिकारक हो (**भीतिकरं**) भयकारक हो (**खेदकरं**) खेदकारक हो (**वैरशोककलहकरम्**) वैर, शोक तथा कलह का कारक हो और (**अपरमपि**) अन्य जो भी (**तापकरं**) सन्ताप कारक हो (**तत्**) वे (**सर्वम्**) सब ही वचन (**अप्रियं**) अप्रिय वचन (**ज्ञेयम्**) जानने चाहिए।

अर्थ—जो वचन दूसरे जीव को अप्रीतिकारक हो, भयकारक हो, खेदकारक हो, वैर, शोक और कलह का कारक हो और अन्य जो भी सन्तापकारक हो, वे सब ही वचन अप्रिय जानने चाहिये।

विशेषार्थ—जो वचन दूसरे को अप्रीतिकारक—बुरे लगने वाले हो, खेद उत्पन्न करने वाले हो, भय उत्पन्न करने वाले हो, वैर उत्पन्न करने वाले हो, शोक उत्पन्न करने वाले हो, अथवा कलह—आपस मे लडाई कराने के कारण हो तथा अन्य भी सन्तापकारक—मानसिक क्लेश उत्पन्न करने वाले सभी वचन अप्रिय असत्य के भेद हैं। इनका प्रयोग नही करना चाहिये।

असत्य वचन मे हिंसा—

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन्प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियत हिंसा समवतरति ॥

॥४-६३-९९॥

अन्वयार्थ—(यत्) क्योकि (अस्मिन्) इन (सर्वस्मिन्नपि) सभी वचनो मे (प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं) प्रमाद—कषाय सहित योग ही एक कारण कहा गया है (तस्मात्) इसलिये (अनृतवचने) असत्य वचन मे (अपि) भी (हिंसा) हिंसा (नियत) निश्चित रूप से (समवतरति) आती है।

अर्थ—क्योकि इन सभी वचनो मे प्रमाद—कषाय सहित योग ही एक कारण कहा गया है, इसलिये असत्य वचन मे भी हिंसा निश्चय-रूप से आती है।

विशेषार्थ—पिछले श्लोको मे असत्य वचनो का उल्लेख किया गया है। सभी प्रकार के असत्य वचन प्रमाद—कषाय योग के कारण ही बोले जाते हैं। जहाँ प्रमादसहित योग होता है वहाँ हिंसा अवश्य होती है और जहाँ प्रमादसहित योग नहीं होता वहाँ हिंसा

भी नहीं होती है। प्रमत्तयोग और हिंसा का ऐसा ही सम्बन्ध है। इसलिए असत्य वचन बोलने मे हिंसा अवश्य होती है।

प्रमाद सहित योग मे हिंसा—

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम्।
हेयानुष्ठानादेरनुवदन भवति नासत्यम्॥
॥४-६४-१००॥

अन्वयार्थ—(**सकलवितथवचनानाम्**) समस्त असत्य वचनो का (**प्रमत्तयोगे**) प्रमादयुक्त योग (**हेतौ**) हेतु—कारण (**निर्दिष्टे**) कथन करने से (**हेयानुष्ठानादे**) हेयोपादेय अनुष्ठानो का (**अनुवदन**) कहना (**असत्यम्**) असत्य (**न भवति**) नही होता।

अर्थ—समस्त असत्य वचनो का प्रमादयुक्त योग हेतु—कारण कथन करने से हेयोपादेय आदि अनुष्ठानो का कहना असत्य नही होता।

विशेषार्थ—जो वचन कषाय युक्त भावो से प्रेरित होकर बोले जाते है, वे सब ही असत्य वचन कहलाते है। मुनिराज मे कषाय भाव का अभाव होने से, वे असत्य वचन के सर्वथा त्यागी होते है। वह अपने प्रवचनो मे हेयोपादेय का उपदेश करते हुए विषय-कषायो तथा अन्य पापो को छुडाने की भावना से उनकी बार-बार निन्दा करते हैं। हो सकता है विषय-कषाय तथा अन्य पापो मे रत जीवो को उनका उपदेश अप्रिय लगे अथवा उससे उनको दु ख उत्पन्न हो। ऐसी दशा मे मुनिराज को असत्य वचन का दोष नही लगता क्योकि उनके वचन कषायगर्भित न होकर कल्याण की सद्भावना से कहे गये हैं। इसीलिये कहा है कि प्रमाद सहित बोलना ही झूठ है, अन्यथा नहीं।

अन्य समस्त असत्य वचनो का त्याग करना चाहिये—

भोगोपभोगसाधनमात्र सावद्यमक्षमा मोक्तुम्।
ये तेऽपि शेषमनृत समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु॥
॥४-६५-१०१॥

अन्वयार्थ—(**वे**) जो जीव (**भोगोपभोगसाधनमात्र**) भोग-उपभोग के साधन मात्र (**सावद्यम्**) हिंसक वचन को (**मोक्तुम्**) छोडने मे (**अक्षमाः**) असमर्थ हैं (**ते अपि**) वे भी (**शेषम्**) बाकी के (**समस्तमपि**) सभी (**अनृत**) असत्य वचन का (**नित्यमेव**) निरन्तर (**मुञ्चन्तु**) त्याग करें।

अर्थ—जो जीव भोग-उपभोग के साधन मात्र हिंसक वचन को छोडने मे असमर्थ है, वे भी बाकी के सभी असत्य वचन का त्याग अवश्य करे।

विशेषार्थ—असत्य वचन त्याग के दो भेद हैं—एक सर्वत्याग जो कि मुनिधर्म पालन मे ही सभव है तथा दूसरा एकदेश त्याग जोकि श्रावकधर्म मे होता है। यहाँ आचार्यश्री प्रेरणा दे रहे हैं कि यदि सर्वथा त्याग बन सके तब तो बहुत ही उत्तम है, यदि कदाचित् कषाय के उदय के कारण सर्वथा त्याग न बन सके तो एकदेश त्याग अवश्य करना चाहिये। गृहस्थ अपने भोग-उपभोग के निमित्त ही सावद्य बोले, अन्यथा नही। उसे गर्हित, अप्रिय तथा झूठ वचन के अन्य सभी भेदो का त्याग अवश्य करना चाहिये।

चौर्य पाप का वर्णन—

अवितीर्णस्य ग्रहण परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।
तत्प्रत्येय स्तेय सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात्॥
॥ ४-६६-१०२ ॥

अन्वयार्थ—(**यत्**) जो (**प्रमत्तयोगात्**) प्रमाद के योग से (**अवितीर्णस्य**) विना दिये (**परिग्रहस्य**) परिग्रह का—स्वर्ण वस्त्रादि का (**ग्रहण**) ग्रहण करना है (**तत्**) उसे (**स्तेय**) चोरी (**प्रत्येयं**) जानना चाहिए (**च**) और (**सा एव**) वही (**वधस्य**) बन्ध का (**हेतुत्वात्**) कारण होने से (**हिंसा**) हिंसा है।

अर्थ—जो प्रमाद के योग से विना दिये परिग्रह का—स्वर्ण वस्त्रादि का ग्रहण करना है, उसे चोरी जानना चाहिये और वही बध का कारण होने से हिंसा है।

विशेषार्थ—'अदत्तादान स्तेयम्'—जहाँ वस्तु का लेना-देना सभव है—ऐसी वस्तु का प्रमत्तयोग से बिना दिये ग्रहण करना चोरी है। अथवा जहाँ वस्तु के ग्रहण करने के सक्लेश परिणाम हो वह चोरी है। स्वामी की आज्ञा के बिना उसके स्वर्ण, वस्त्रादि तथा अन्य पड़ी हुई वस्तुओ को उठा लेना, भूली हुई वस्तु का ग्रहण करना, चुरा लेना अथवा जबरदस्ती छीन लेना चोरी है।

चोरी करना भी हिसा है, क्योकि इसमे स्व और पर की भाव हिसा तथा द्रव्य हिसा दोनो पायी जाती है। चोरी करने वाले जीव के, चोरी करने के परिणाम होने से उसके भावप्राणो का घात होता है तथा कदाचित् चोरी करते हुए पकडा जाये अथवा चोरी प्रकट हो जाये तो द्रव्य प्राणो का घात भी सभव है। इसी प्रकार जिसकी वस्तु चुराई जाती है उसके परिणामो मे सक्लेश उत्पन्न होता है, यह उसके भावप्राणो का घात है, तथा उसकी प्रिय वस्तु चोरी होने से द्रव्य-प्राणो का घात भी सभव है। क्योकि धनादिक भी द्रव्यप्राणो के पोषक हैं। इस प्रकार चोरी करने वाले जीव की तथा जिसकी चोरी हुई है दोनो की भावहिसा तथा द्रव्यहिसा होती है। अत चोरी भी हिसा रूप होने से पाप कर्म के बन्ध का कारण है।

चोरी साक्षात् हिसा है—

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चरा. पुसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान्॥
॥ ४-६७-१०३ ॥

अन्वयार्थ—(**यः**) जो (**जन.**) मनुष्य (**यस्य**) जिस जीव के (**अर्थान्**) पदार्थों अथवा धन को (**हरति**) हर लेता है (**स.**) वह मनुष्य (**तस्य**) उस जीव के (**प्राणान्**) प्राणो को (**हरति**) हर लेता है, क्योकि जगत् मे (**ये**) जो (**एते**) ये (**अर्थाः नाम**) धन आदि पदार्थ प्रसिद्ध हैं (**एते**) वे सभी (**पुंसाम्**) मनुष्यो के (**बहिश्चराः प्राणाः**) बाह्य प्राण हैं।

अर्थ—जो मनुष्य जिस जीव के पदार्थों अथवा धन को हर लेता है, वह मनुष्य उस जीव के प्राणों को हर लेता है, क्योंकि जगत् मे जो ये धनादि पदार्थ प्रसिद्ध हैं, वे सभी मनुष्य के बाह्य प्राण हैं।

विशेषार्थ—जिस प्रकार तीन बल, पाँच इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास तथा आयु ये संसारी जीव के द्रव्यप्राण हैं, उसी प्रकार धन, धान्य, सम्पत्ति, बैल, घोडा, घर, जमीन, स्त्री, पुत्र, वस्त्र आदि भी उसके बाह्य प्राण कहलाते हैं। कोई-कोई लोग तो उपर्युक्त पदार्थों को ग्यारहवाँ प्राण भी कहते हैं, क्योंकि ये उन्हे प्राणो से भी अधिक प्रिय होते हैं। इन पदार्थों मे से किसी एक का भी वियोग होने पर उस जीव को प्राणघात जैसा दुःख उत्पन्न होता है, इसलिए कहा है कि किसी के धनादि का हरण करना/चुरा लेना उसके प्राणो का भी हरण है। प्राणो का हरण/घात होने के कारण ही चोरी को साक्षात् हिसा कहा है।

हिसा और चोरी मे अव्यापकता नही, व्यापकता ही है --

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघटमेव सा यस्मात्।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः॥
॥ ४-६८-१०४ ॥

अन्वयार्थ—(**हिंसायाः**) हिसा मे (**च**) और (**स्तेयस्य**) चोरी मे (**अव्याप्ति**) अव्याप्ति (**न**) नही है (**सा सुघटमेव**) चोरी मे हिसा सुघटित होती है (**यस्मात्**) क्योकि (**अन्यै**) दूसरो के द्वारा (**स्वीकृतस्य**) स्वीकार किए गये (**द्रव्यस्य**) द्रव्य के (**ग्रहणे**) ग्रहण मे (**प्रमत्तयोग**) प्रमाद का योग है।

अर्थ—हिसा मे और चोरी मे अव्याप्ति नही है। चोरी मे हिसा सुघटित होती ही है, क्योकि दूसरो के द्वारा स्वीकार किए गए द्रव्यों के ग्रहण मे प्रमाद का योग है।

विशेषार्थ—जो लक्षण पदार्थ के एकदेश मे पाया जाये उसे 'अव्याप्ति' दोष कहते है—ऐसा पूर्व मे बता चुके है। इसके अनुसार

हिंसा और चोरी मे अव्याप्ति दोष नही है, बल्कि व्यापकता पाई जाती है। क्योंकि चोरी करने मे प्रमादयोग ही मुख्य कारण है। प्रमादयोग के बिना चोरी सभव ही नही। प्रमाद का नाम ही हिंसा है। 'जहाँ-जहाँ चोरी होती है वहाँ-वहाँ हिंसा अवश्य होती है'। इस प्रकार हिंसा और चोरी मे व्यापकता सिद्ध होती है।

हिंसा और चोरी मे अतिव्याप्ति भी नही—

नातिव्याप्तिश्च तयो प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्।
अपि कर्म्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात्॥

॥ ४-६६-१०५ ॥

अन्वयार्थ—(**च**) और (**नीरागाणाम्**) वीतरागी पुरुषो के (**प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्**) प्रमत्तयोगरूप एक कारण के अभाव से (**कर्म्मानुग्रहणे**) द्रव्य कर्म और नोकर्म की कर्म-वर्गणाओ को ग्रहण करने मे (**अपि**) निश्चय ही चोरी की (**अविद्यमानत्वात्**) अनुपस्थिति से (**तयोः**) उन दोनो—हिंसा और चोरी मे (**अतिव्याप्ति**) अतिव्याप्ति (**न**) नही है।

अर्थ—और वीतरागी पुरुषो के प्रमत्तयोग रूप एक कारण के अभाव से, द्रव्य कर्म और नोकर्म वर्गणाओ को ग्रहण करने मे निश्चय ही चोरी की अनुपस्थिति से उन दोनो—हिंसा और चोरी मे अतिव्याप्ति भी नही है।

विशेषार्थ– 'लक्ष्य और अलक्ष्य मे लक्षण के रहने को अतिव्याप्ति दोष कहते है' ऐसा पूर्व मे बता चुके है। चोरी का लक्षण 'प्रमत्तयोगात् अदत्तादान स्तेय' कहा है। अर्थात् प्रमत्तयोग से बिना दी हुई पर वस्तु का ग्रहण करना चोरी है। इस लक्षण मे अतिव्याप्ति दोष नही आता क्योंकि 'प्रमत्तयोग से बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण चोरी है, परन्तु जहाँ प्रमत्तयोग नही है वहाँ चोरी नही है'।

वीतराग अरहन्त भगवान् बिना दी हुई कर्म और नोकर्म वर्गणाओ का ग्रहण करते है, उन्हे भी चोरी के दोष का प्रसग आना

चाहिए, परन्तु ऐसा नही है, क्योकि उनके 'प्रमत्तयोग' का अभाव है। प्रमत्तयोग के अभाव मे चोरी नही कहलाती। प्रमत्तयोग के बिना चोरी हो सकती तो अतिव्याप्ति दोष आता। प्रमत्तयोग को ही हिंसा कहते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि हिंसा और चोरी मे अतिव्याप्ति नही है। 'जहाँ-जहाँ हिंसा है वहाँ-वहाँ चोरी है, जहाँ-जहाँ हिंसा नही, वहाँ-वहाँ चोरी भीनही'।

चोरी के त्याग के भेद—

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥
॥ ४-७०-१०६ ॥

अन्वयार्थ—(**ये**) जो जीव (**निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्**) दूसरे के कुआ, बावडी आदि जलाशयो का जल इत्यादि ग्रहण करने का त्याग(**कर्त्तुम्**)करने मे (**असमर्था**)असमर्थ है (**तै**)उन्हे (**अपि**) भी (**अपर**) अन्य (**समस्तम्**) सब ही (**अदत्तं**) विना दी हुई वस्तुओ के ग्रहण करने का (**नित्यम्**) हमेशा (**परित्याज्यम्**) त्याग करना चाहिए।

अर्थ—जो जीव दूसरे के कुआ, बावडी आदि जलाशयो का जल इत्यादि ग्रहण करने का त्याग करने मे असमर्थ है, उन्हें भी अन्य सब ही विना दी हुई वस्तुओ के ग्रहण का हमेशा त्याग करना चाहिए।

विशेषार्थ—चोरी का त्याग भी दो प्रकार का है—एक सर्वथा त्याग जोकि मुनिधर्म पालन मे ही सभव है तथा दूसरा एकदेश त्याग जिसे गृहस्थ लोग/श्रावक ग्रहण करते हैं। बन सके तो सर्वथा त्याग करना ही उत्तम है, यदि कदाचित् यह न बन सके तो एकदेश त्याग तो अवश्य करना चाहिये। श्रावक कुआ, नदी, बावडी इत्यादि का जल, खान की मिट्टी बिना पूछे या विना दिये ग्रहण कर सकता है, उसे चोरी का दोष नही लगता। यदि मुनि उन्हे ग्रहण करे तो

चोरी कहलायेगी। अतः श्रावक को बिना दी हुई समस्त अन्य वस्तुओं का त्याग अवश्य करना चाहिये।

कुशील (अब्रह्म) का स्वरूप—

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात्॥
॥ ४-७१-१०७ ॥

अन्वयार्थ—(**यत्**) जो (**वेदरागयोगात्**) वेद के राग रूप योग से (**मैथुनम्**) स्त्री-पुरुष का सहवास (**अभिधीयते**) कहा जाता है (**तत्**) वह (**अब्रह्म**) अब्रह्म है और (**तत्र**) उस सहवास मे (**वधस्य**) प्राणी-वध का (**सर्वत्र**) सब जगह (**सद्भावात्**) सद्भाव होने से (**हिंसा**) हिंसा (**अवतरति**) होती है।

अर्थ—जो वेद के रागरूप योग से स्त्री-पुरुष का सहवास कहा जाता है, वह अब्रह्म है और उस सहवास मे प्राणी-वध का सब जगह सद्भाव होने से हिंसा होती है।

विशेषार्थ—'मैथुनमब्रह्म'—मैथुन अब्रह्म/कुशील है। पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुसकवेद—ये तीन वेद के भेद हैं। इन तीनो वेदो के उदय-जन्य राग रूप योग से मैथुन अर्थात् स्त्री-पुरुष का मिलकर काम-सेवन करना कुशील/अब्रह्म कहलाता है। कुशील-सेवन मे स्व और पर हिंसा का सद्भाव है। स्त्री-पुरुष के कामरूप परिणाम होने से भाव हिंसा होती है। शरीर मे शिथिलता आदि तथा वीर्यक्षय आदि होने से द्रव्यप्राण का घात होता है। स्त्री की योनि इत्यादि के आश्रय से मनुष्य के आकार के सम्मूर्छन पचेन्द्रिय जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। सहवास के समय उन जीवो के भावप्राण तथा द्रव्यप्राण का घात होता है इस प्रकार कुशील-सेवन मे सर्वत्र हिंसा होती है।

मैथुन मे साक्षात् हिंसा—

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत् ।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥
॥ ४-७२-१०८ ॥

अन्वयार्थ—(**यद्वत्**) जिस प्रकार (**तिलनाल्यां**) तिल से भरी नली मे (**तप्तायसि विनिहिते**) गरम लोहे की सलाख डालने से (**तिला**) तिल (**हिंस्यन्ते**) नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जल-भुन जाते हैं (**तद्वत्**) उसी प्रकार (**मैथुने**) मैथुन के समय (**योनौ**) योनि मे भी (**बहवो जीवा.**) बहुत से जीव (**हिंस्यन्ते**) मर जाते है ।

अर्थ—जिस प्रकार तिल से भरी नली मे गरम लोहे की सलाख डालने से तिल नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जल-भुन जाते हैं, उसी प्रकार मैथुन के समय योनि मे बहुत से जीव मर जाते हैं ।

विशेषार्थ—जैसे तिलो से भरी नली मे अत्यन्त गरम लोहे की सलाख डाली जाये तो वे तिल जल-भुन कर नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार मैथुन क्रिया मे स्त्री की योनि मे रहने वाले जीव तुरन्त ही मर जाते हैं । इस प्रकार मैथुन मे साक्षात् हिंसा है ।

अनग क्रीडा मे भी हिंसा है—

यदपि क्रियते किंचिन्मदनोद्रेकादनंगरमणादि ।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥
॥ ४-७४-१०९ ॥

अन्वयार्थ—(**मदनोद्रेकात्**) काम की तीव्रता से (**यदपि किंचित्**) जो कुछ भी (**अनंगरमणादि**) अनग क्रीडा (**क्रियते**) की जाती है (**तत्रापि**) उसमे भी (**रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्**) रागादि की उत्पत्ति के कारण (**हिंसा**) हिंसा (**भवति**) होती है ।

अर्थ—काम की तीव्रता से जो कुछ भी अनगक्रीडा की जाती है, उसमे भी रागादि की उत्पत्ति के कारण हिंसा होती है ।

विशेषार्थ—चारित्रमोहनीय कर्म के तीव्र उदय से तीव्र काम विकार उत्पन्न होता है। जो व्यक्ति तीव्र कामविकार के कारण अनगक्रीडा (काम सेवन करने योग्य अंगो के सिवाय अन्य अगो से या अन्य अगो मे काम चेष्टा करना) करता है वह भो हिंसा करता है। यदि रागादि भाव तीव्र न हो तो कामक्रीडा अथवा अनगक्रीडा सभव ही नही। जहाँ रागादि भावो की तीव्रता है वहाँ हिंसा अवश्य होती है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अनंगक्रीडा मे भी राग का सद्भाव होने से हिंसा होती है।

कुशील के त्याग का क्रम—

ये निजकलत्रमात्र परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात्।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम्॥
॥ ४-७५-११० ॥

अन्वयार्थ—(**ये**) जो जीव (**मोहात्**) मोह के कारण (**निज-कलत्रमात्र**) अपनी विवाहिता स्त्री को (**परिहर्तुम्**) छोडने मे (**हि**) निश्चय ही (**न शक्नुवन्ति**) समर्थ नहीं है (**तैः**) उन्हे (**निःशेषशेष-योषिन्निषेवण अपि**) बाकी की समस्त स्त्रियो का सेवन तो कदापि (**न**) नही (**कार्यम्**) करना चाहिये।

अर्थ—जो जीव मोह के कारण अपनी विवाहिता स्त्री को छोडने मे निश्चय ही समर्थ नही, उन्हे बाकी की समस्त स्त्रियो का सेवन तो कदापि नही करना चाहिये।

विशेषार्थ—कुशील का त्याग भी दो प्रकार का है—एक सर्वथा महाव्रत रूप त्याग जो कि मुनिधर्म पालन मे ही सभव है तथा दूसरा एकदेश त्याग जिसे श्रावक ग्रहण करते हैं। सर्वथा महाव्रत रूप त्याग करना तो अति उत्तम है। यदि कदाचित् अपनी विवाहिता स्त्री को छोडने मे असमर्थ हो तो श्रावक को 'ब्रह्मचर्याणुव्रत'—एकदेश ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य करना चाहिये। उसे अपनी अपनी स्त्री मे ही सन्तोष रखना चाहिये, उसके अतिरिक्त अन्य किसी भी स्त्री के साथ काम-सेवन का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

परिग्रह पाप का स्वरूप—

> या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येष.।
> मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः ॥
> ॥ ४-७५-१११ ॥

अन्वयार्थ—(इयं) यह (या) जो (मूर्च्छा नाम) मूर्च्छा है (एषः) इसे ही (हि) निश्चय ही (परिग्रह) परिग्रह (विज्ञातव्य) जानना चाहिये (तु) और (मोहोदयात्) मोह के उदय से (उदीर्ण) उत्पन्न हुआ (ममत्वपरिणामः) ममत्व रूप परिणाम ही (मूर्च्छा) मूर्च्छा है।

अर्थ—यह जो मूर्च्छा है, इसे ही निश्चय ही परिग्रह जानना चाहिये। और मोह के उदय से उत्पन्न हुआ ममत्वरूप परिणाम ही मूर्च्छा है।

विशेषार्थ—'मूर्च्छा परिग्रहः'—मूर्च्छा परिग्रह है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से पर-पदार्थों मे जो रागादि-रूप ममत्व परिणाम उत्पन्न होता है अथवा 'यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ'—इस प्रकार जो सकल्प होता है, वास्तव मे वही 'मूर्च्छा' है। मूर्च्छा को परिग्रह भी कहते हैं। जो हमारी आत्मा को ममत्वभाव के कारण चारो ओर से जकडे उसे 'परिग्रह' कहते हैं। पर-वस्तु के प्रति रागादि-रूप परिणाम आत्म-स्वभाव के घातक होने से हिंसा ही हैं। अत हिंसा-रूप होने से परिग्रह पाप ही है।

मूर्च्छा (ममत्व परिणाम) ही वास्तव मे परिग्रह है—

> मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।
> सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनाऽपि किल शेषसंगेभ्यः ॥
> ॥ ४-७६-११२ ॥

अन्वयार्थ—(परिग्रहत्वस्य) परिग्रह भाव का (मूर्च्छालक्षणकरणात्) मूर्च्छा लक्षण करने से (व्याप्ति·) व्याप्ति (सुघटा) भली

प्रकार से घटित होती है, क्योकि (**शेषसंगेभ्यः**) अन्य बाह्य परिग्रहो क (**विना अपि**) विना भी (**मूर्च्छावान्**) ममत्व परिणाम रखने वाला पुरुष (**किल**) निश्चय ही (**सग्रन्थ**) बाह्य परिग्रह सहित है।

अर्थ—परिग्रह भाव का 'मूर्च्छा' लक्षण करने से व्याप्ति भली प्रकार घटित होती है, क्योकि अन्य बाह्य परिग्रहो के बिना भी ममत्व-परिणाम रखने वाला पुरुष निश्चय ही बाह्य परिग्रह सहित है।

विशेषार्थ—जहाँ लक्षण हो वहाँ लक्ष्य भी हो, इस प्रकार साहचर्य के नियम को व्याप्ति कहते है। 'परिग्रहो के भाव का लक्षण मूर्च्छा है।' इस लक्षण मे मूर्च्छा की परिग्रह के साथ व्याप्ति भली प्रकार घटित होती है। 'जहाँ-जहाँ मूर्च्छा है वहाँ-वहाँ परिग्रह है।' धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह के विना भी, उसके प्रति ममत्व भाव रखने वाला व्यक्ति नियम से परिग्रह-सहित है। जैसे कोई व्यक्ति अति निर्धन है। उसके पास बाह्य कुछ भी वस्तु परिग्रह रूप मे नही है, परन्तु उसके अन्तरग मे नाना वस्तुओ के प्रति ममत्व परिणाम बना हुआ है, इसलिए वह परिग्रहवान् ही है। किसी वस्तु का अपने पास होना या न होना परिग्रह नही कहलाता, वास्तव मे उस वस्तु के प्रति जो हमारा ममत्वपरिणाम है, वही परिग्रह है।

बाह्य वस्तु मूर्च्छा की निमित्त है—

यद्येव भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरगः।
भवति नितरा यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्त्वम्॥
॥४-७७-११३॥

अन्वयार्थ—(**यदि**) यदि (**एव**) ऐसा (**भवति**) होता है अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह होता (**तदा**) तब तो (**खलु**) निश्चय ही (**बहिरग परिग्रह**) बाह्य परिग्रह (**कोऽपि**) कुछ भी (**न**) नही (**भवति**) होता ? ऐसा नही है, (**यत**) क्योकि (**असौ**) यह बाह्य परिग्रह (**मूर्च्छानिमित्तत्त्वम्**) मूर्च्छा के निमित्तपने को (**नितरां**) पूर्ण रूप से (**धत्ते**) धारण करता है।

अर्थ—यदि ऐसा होता अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह होता, तब तो निश्चय ही बाह्य परिग्रह कुछ भी नहीं होता? ऐसा नहीं है, क्योंकि यह बाह्य परिग्रह मूर्च्छा के निमित्तपने को पूर्णरूप से धारण करता है।

विशेषार्थ—यहाँ कोई शंका करता है कि यदि मूर्च्छा का नाम ही वास्तव मे परिग्रह है तो धन-धान्यादि बाह्य वस्तुयें परिग्रह नहीं कहलायेंगी, इनको परिग्रह क्यो कहते हो? आचार्यश्री उसका समाधान करते हैं—धन-धान्यादि बाह्य वस्तुये मूर्च्छा/इच्छा/लालसा उत्पन्न करने के लिए विशेष निमित्त कारण हैं। उन वस्तुओ के देखने-सुनने से उनमे अनुराग/इच्छा उत्पन्न होती है। इसलिए उसे भी परिग्रह कहा जाता है। इस प्रकार परिग्रह का लक्षण तो 'मूर्च्छा' ही सिद्ध होता है। बाह्य पदार्थ तो मूर्च्छा भाव मे निमित्त मात्र हैं।

पूर्व कथित लक्षण मे अतिव्याप्ति दोष नही है—

एवमतिव्याप्ति स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम्।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छाऽस्ति ॥
॥ ४-७८-११४ ॥

अन्वयार्थ—(**इति चेत्**) यदि ऐसा कहते हो तो (**एवम्**) इस लक्षण मे (**परिग्रहस्य**) बाह्य परिग्रह को (**अतिव्याप्ति**) अतिव्याप्ति (**स्यात्**) होती है? (**एव**) ऐसा (**न भवेत्**) नही होता अर्थात् अतिव्याप्ति नही होती (**यस्मात्**) क्योकि (**अकषायाणां**) कषाय रहित अर्थात् वीतरागी पुरुषो को (**कर्मग्रहण**) कार्मणवर्गणा के ग्रहण मे (**मूर्च्छा**) मूर्च्छा (**नास्ति**) नहीं है।

अर्थ—यदि ऐसा कहते हो, तो इस लक्षण मे परिग्रह की अतिव्याप्ति होती है? ऐसा नहीं होता अर्थात् अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि कषाय-रहित वीतरागी पुरुषो को कार्मणवर्गणा के ग्रहण मे मूर्च्छा नहीं है।

विशेषार्थ—शंकाकार पुनः शका करता है कि आप बाह्य परिग्रह को मूर्च्छा उत्पन्न करने का कारण कहते हो तो 'मूर्च्छा परिग्रह'—इस लक्षण मे अतिव्याप्ति दोष आता है, क्योकि अर्हन्त अवस्था मे कार्मण तथा नोकर्म वर्गणाओ के ग्रहण रूप परिग्रह है, यहाँ भी मूर्च्छा हो जायेगी।

शका समाधान—अतिव्याप्ति दोष नही है क्योकि 'जहाँ-जहाँ मूर्च्छा नही है, वहाँ-वहाँ परिग्रह नही है, तथा जहाँ-जहाँ परिग्रह है वहाँ-वहाँ मूर्च्छा अवश्य है।' इस सिद्धान्त के अनुसार वीतरागी महापुरुषो के कार्मण तथा नोकर्म वर्गणाओ के ग्रहण मे मूर्च्छा का सर्वथा अभाव है। मूर्च्छा न होने से यह उनका परिग्रह सिद्ध नही होता। अतः उक्त लक्षण मे अतिव्याप्ति दोष नही है।

परिग्रह के भेद—

अतिसक्षेपाद् द्विविध स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु ॥
॥ ४-७६-११५ ॥

अन्वयार्थ – (**अतिसक्षेपात्**) अतिसक्षेप से (**स**) वह परिग्रह (**आभ्यन्तर**) अन्तरग (**च**) और (**बाह्य**) बहिरग (**द्विविध**) दो प्रकार का (**भवेत्**) है (**च**) और (**प्रथमः**) पहला—अन्तरग परिग्रह (**चतुर्दशविधः**) चौदह प्रकार का (**तु**) तथा (**द्वितीय**) दूसरा—बहिरग परिग्रह (**द्विविध**) दो प्रकार का (**भवति**) है।

अर्थ—अति सक्षेप से वह परिग्रह अन्तरग और बहिरग दो प्रकार का है। और पहला—अन्तरंग परिग्रह चौदह प्रकार का, तथा दूसरा बहिरग परिग्रह दो प्रकार का है।

विशेषार्थ—संक्षेप से परिग्रह दो प्रकार का है। एक अन्तरग तथा दूसरा बहिरग। आत्मा के क्रोधादि परिणामो को अन्तरग परिग्रह कहते हैं। वह चौदह प्रकार का है। बाहर के सभी पदार्थों को बाह्य

परिग्रह कहते हैं, वह मूल मे दो प्रकार का है। इनका वर्णन आचार्यश्री आगे के श्लोको मे स्वयं करेंगे।

अन्तरग परिग्रह के चौदह भेद —

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषा ।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्था ॥
॥ ४-८०-११६ ॥

अन्वयार्थ—(**मिथ्यात्ववेदरागाः**) मिथ्यात्व, तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद का राग (**तथैव च**) और इसी तरह (**हास्यादय**) हास्यादि—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा—ये (**षड्-दोषा**) छह दोष (**च**) और (**चत्वार.**) चार (**कषायाः**) कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये (**आभ्यन्तराः ग्रन्था·**) अन्तरग परिग्रह (**चतुर्दश**) चौदह है।

अर्थ—मिथ्यात्व, तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद का राग, और इसो तरह हास्यादि—हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा—ये छह दोष, और चार कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये अन्तरग परिग्रह चौदह हैं।

विशेषार्थ—अन्तरग परिग्रह चौदह प्रकार का है—(१) मिथ्यात्व—तत्वार्थों का विपरीत श्रद्धान, (२) स्त्रोवेद—पुरुष की अभिलाषा रूप परिणाम, (३) पुरुषवेद—स्त्रो की अभिलाषा रूप परिणाम, (४) नपुसकवेद—स्त्रो तथा पुरुष दोनो की अभिलाषा रूप परिणाम, (५) हास्य, (६) रति, (७) अरति, (८) शोक, (९) भय, (१०) जुगुप्सा—ग्लानि, (११) क्रोध, (१२) मान, (१३) माया (१४) लोभ। ये सब आत्मा के विभाव/विकारो परिणाम हैं, इसलिए इन्हे परिग्रह की सज्ञा दो गई है। कर्मोदय के निमित्त से आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर इन विकारी परिणामो मे ही रमा रहता है।

बाह्य परिग्रह के दो भेद—

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ ।
नैष कदाऽपि संगः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम् ॥
॥ ४-८१-११७ ॥

अन्वयार्थ—(**अथ**) इसके बाद (**बाह्यस्य**) बहिरग परिग्रह के (**निश्चित्तसचित्तौ**) अचित्त और सचित्त यह (**द्वौ**) दो (**भेदौ**) भेद है (**एष**) यह (**सर्व अपि**) सभी (**सग.**) परिग्रह (**कदा अपि**) किसी समय भी (**हिंसाम्**) हिंसा का (**न अतिवर्तते**) उल्लघन नही करते अर्थात् कोई भी परिग्रह कभी भी हिंसा-रहित नही है ।

अर्थ—इसके बाद बहिरग परिग्रह के अचित्त और सचित्त यह दो भेद है । यह सभी परिग्रह किसी समय भी हिंसा का उल्लघन नही करते अर्थात् कोई भी परिग्रह कभी भी हिसा-रहित नही है ।

विशेषार्थ—बहिरग परिग्रह अचित्त (अचेतन) तथा सचित्त (चेतन) के भेद से दो प्रकार का है । अचेतन परिग्रह के आठ भेद है—(१) धान्य (सब प्रकार के अनाज), (२) क्षेत्र (खेत), (३) वास्तु (घर), (४) धन (सोना, चाँदी, हीरा-मोती, धन-सम्पदा इत्यादि), (५) शयनासन (पलग इत्यादि), (६) यान (सवारी), (७) कुप्य (सब प्रकार के वस्त्र तथा (८) भाण्ड (सब प्रकार के बर्तन) । चेतन परिग्रह के भी दो भेद है—(१) चतुष्पद (गाय-भेंस इत्यादि अनेक पशु तथा (२) द्विपद (दासी, दास स्त्री-पुरुष आदि)। इस प्रकार बहिरग परिग्रह के कुल मिलाकर दस भेद हुए । ये सभी परिग्रह हिसा रूप ही हैं । कोई भी परिग्रह किसी समय भी हिंसा विना नही है । अगले श्लोको मे आचार्यश्री स्वय इसका स्पष्टीकरण करेंगे ।

परिग्रह सम्बन्धी हिंसा/अहिसा का लक्षण—

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्या सूचयन्त्यहिंसेति ।
द्विविधपरिग्रहवहन हिंसेति जिनप्रवचनज्ञा ॥
॥ ४-८२-११८ ॥

अन्वयार्थ—(**जिनप्रवचनज्ञाः**) जिनसिद्धान्त के जानने वाले (**आचार्याः**) आचार्य (**उभयपरिग्रहवर्जनम्**) दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग को (**अहिंसेति**) अहिंसा—ऐसा और (**द्विविधपरिग्रहवहनं**) दोनो प्रकार के परिग्रह धारण करने को (**हिंसेति**) हिंसा—ऐसा (**सूचयन्ति**) सूचित करते हैं - कहते हैं।

अर्थ—जिनसिद्धान्त के जानने वाले आचार्य दोनो प्रकार के परि-ग्रह के त्याग को अहिंसा—ऐसा, और दोनो प्रकार के परिग्रह के धारण को हिंसा—ऐसा सूचित करते हैं—कहते हैं।

विशेषार्थ—जैन सिद्धान्त के जानने वाले आचार्यों ने अन्तरग और बहिरग दोनो प्रकार के परिग्रह के त्याग को 'अहिंसा' तथा दोनो प्रकार के परिग्रह के धारण को हिंसा' कहा है। इसका खुलासा अगले श्लोक मे है।

दोनो प्रकार के परिग्रहो मे हिंसा—

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसाऽन्तरंगसंगेषु।
बहिरंगेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम्॥
॥ ४-८३-११९ ॥

अन्वयार्थ—(**हिंसापर्यायत्वात्**) हिंसा की पर्याय रूप होने से (**अन्तरगसगेषु**) अन्तरग परिग्रहो मे (**हिंसा**) हिंसा (**सिद्धा**) स्वयं सिद्ध है और (**बहिरंगेषु**) बहिरग परिग्रहो मे (**मूर्च्छा**) ममत्वभाव (**एव**) ही (**नियतं**) निश्चय ही (**हिंसात्वम्**) हिंसाभाव को (**प्रयातु**) प्राप्त होता है।

अर्थ—हिंसा की पर्यायरूप होने से अन्तरग परिग्रहो मे हिंसा स्वय सिद्ध है और बहिरग परिग्रहो मे ममत्वभाव ही निश्चय ही हिंसाभाव को प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार के सभी अन्तरग परिग्रह मोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से होने वाले आत्मा के विभाव/

विकारी परिणाम हैं। आत्मस्वभाव का घात करने से ये सब परिणाम भावहिंसा की ही भिन्न-भिन्न पर्याय है। ममत्वपरिणाम भी आत्मा का विभाव/विकारी परिणाम है। आत्मस्वभाव का घात करने वाला है, इसलिए हिंसा ही है। इस प्रकार अन्तरग और बहिरग दोनो प्रकार का परिग्रह हिसा रूप ही है।

क्या ममत्व परिणाम मात्र सभी मे समान पाप-बन्ध का कारण है ?—

एव न विशेष: स्यादुन्दुरुरिपुहरिणशावकावीनाम् ।
नैव भवति विशेषस्तेषां मूर्च्छाविशेषेण ॥
॥ ४-८४-१२० ॥

अन्वयार्थ– (**एव**) यदि ऐसा ही हो अर्थात् बहिरग परिग्रह मे ममत्वपरिणाम का होना ही मूर्च्छा है, तो (**उन्दुरुरिपुहरिणशावकादीनाम्**) बिल्ली और हरिण के बच्चे इत्यादि मे (**विशेष**) कोई विशेषता (**न स्यात्**) न रहे। परन्तु (**एव**) ऐसा (**न भवति**) नही होता, क्योकि (**मूर्च्छाविशेषेण**) ममत्व परिणामो की विशेषता से (**तेषां**) उन बिल्ली और हरिण के बच्चे इत्यादि जीवो मे (**विशेष**) विशेषता है अर्थात समानता नही है।

अर्थ—यदि ऐसा ही हो अर्थात् बहिरग परिग्रह मे ममत्वपरिणाम का होना ही मूर्च्छा है, तो बिल्ली और हरिण के बच्चे इत्यादि मे कोई विशेषता न रहे ? परन्तु ऐसा नही होता, क्योकि ममत्वपरिणामो की विशेषता से उन बिल्ली और हरिण के बच्चे इत्यादि जीवो मे विशेषता है अर्थात् समानता नही है।

विशेषार्थ—यहाँ कोई शका करता है कि यदि बहिरग परिग्रह मे ममत्वपरिणाम ही हिसा का कारण है, तो बिल्ली और हरिण के बच्चे मे कोई भेद नही रहेगा, दोनो समान रूप से हिंसक कहलायेंगे? आचार्यश्री शका का समाधान करते है कि वास्तव मे ऐसा नही है। बिल्ली के मास खाने के परिणाम है और हरिण के घास खाने के

परिणाम हैं। इस प्रकार इन दोनो के ममत्वपरिणामो मे विशेष अन्तर है। समानता नही है। अतः दोनो के ममत्वपरिणामों मे अंतर होने के कारण कर्मबन्ध मे भी अन्तर है।

दोनो की मूर्च्छा मे विशेषता—

हरिततृणांकुरचारिणि मन्दा मृगशावके भवति मूर्च्छा।
उन्दुरनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा॥
॥ ४-८५-१२१ ॥

अन्वयार्थ—(**हरिततृणांकुरचारिणि**) हरी घास के अकुर खाने वाले (**मृगशावके**) हरिण के बच्चे मे (**मूर्च्छा**) मूर्च्छा (**मन्दा**) मन्द (**भवति**) होती है (**सा एव**) वही मूर्च्छा (**उन्दुरनिकरोन्माथिनि**) चूहो के समूह का वध करने वाली (**मार्जारे**) बिल्लो मे (**तीव्रा**) तीव्र (**जायते**) होती है।

अर्थ—हरी घास के अकुर खाने वाले हरिण के बच्चे मे मूर्च्छा मन्द होती है। वही मूर्च्छा चूहो के समूह का वध करने वाली बिल्ली मे तीव्र होती है।

विशेषार्थ—पिछले श्लोक मे कही गई परिणामो की विशेषता (अन्तर) का यहाँ स्पष्टीकरण करते है—हरिण के बच्चे को हरी घास खाने मे अधिक लालसा अथवा सरागता नही है। यदि घास खाते समय जरासा भी डर मालूम पडता है तो वह तुरन्त घास छोडकर भाग जाता है। इससे प्रतीत होता है कि उसमे ममत्वपरिणाम बहुत मन्द है। इसके विपरीत बिल्ली मे चूहो को मारकर खाने की लालसा/सरागता अति तीव्र है। यदि चूहो को खाते समय कोई बिल्ली को लाठी से भी मारे तो भी वह बडी मुश्किल से उसे छोडती है। इससे ज्ञात होता है कि उसमे ममत्वपरिणाम बहुत तीव्र है। इस प्रकार दोनो के राग और ममत्वपरिणामो मे बहुत अन्तर है, अत. दोनो एक समान हिंसक या पापी नही है। राग की तीव्रता/मन्दता तथा ममत्वपरिणामो के अनुसार वे पाप के भागी होगे।

पूर्व कथन की सिद्धि—

निर्बाधं संसिद्ध्येत् कार्यविशेषो हि कारणविशेषात् ।
औधस्यखण्डयोरिह माधुर्य्यप्रीतिभेद इव ॥
॥ ४-८६-१२२ ॥

अन्वयार्थ—(औधस्यखण्डयो) दूध और खाण्ड मे (माधुर्य्य-प्रीतिभेदः इव) मधरता के रुचि-भेद की तरह (इह) इस लोक मे (हि) निश्चय ही (कारणविशेषात्) कारण की विशेषता से (कार्य-विशेषः) कार्य की विशेषता (निर्बाधं) बाधा रहित (संसिद्ध्येत्) भली प्रकार से सिद्ध होती है ।

अर्थ—दूध और खाण्ड मे मधुरता के रुचि-भेद की तरह, इस लोक मे निश्चय ही कारण की विशेषता से कार्य की विशेषता बाधा रहित भली प्रकार से सिद्ध होती है ।

विशेषार्थ—कारण के अनुसार ही कार्य उत्पन्न होता है, ऐसा नियम है । जैसे दूध मे मिठास कम है और खाण्ड (चीनी) मे ज्यादा है । जो अधिक मीठे के इच्छुक है, उनको दूध मे कम और खाण्ड मे विशेष रुचि होती है । अगले श्लोक मे इसी तथ्य को उदारण द्वारा स्पष्ट करेंगे ।

उसका उदाहरण—

माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्ये ।
सैवोत्कटमाधुर्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा ॥
॥ ४-८७-१२३ ॥

अन्वयार्थ—(किल) निश्चय हो (मन्दमाधुर्ये) थोडे मिठास वाले (दुग्धे) दूध मे (माधुर्यप्रीतिः) मिठास की रुचि (मन्दा) थोडी (एव) ही (व्यपदिश्यते) कहने मे आती है (सा एव) वही मिठास की रुचि (उत्कटमाधुर्ये) अधिक मिठास वाली (खण्डे) खाण्ड में (तीव्रा) अधिक कहने मे आती है ।

अर्थ—निश्चय ही थोडे मिठास वाले दूध मे मिठास की रुचि थोड़ी ही कहने मे आती है। वही मिठास की रुचि अधिक मिठास वाली खाण्ड मे अधिक कहने मे आती है।

विशेषार्थ—इस श्लोक मे उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि अपने-अपने ममत्वभाव/राग की मन्दता/तीव्रता के अनुसार जीव हिंसा के भागीदार होते हैं। जैसे कोई जीव तो गाय का दूध पीकर ही उसके थोडे मिठास से सन्तुष्ट हो जाता है, और कोई दूसरा तीव्र मिठास की रुचि वाला जीव उसी दूध मे खाण्ड मिलाकर पीने पर सन्तुष्ट होता है। वैसे ही जिस पुरुष को पदार्थों मे जितना ममत्व-भाव/राग होगा, वह भावो की तीव्रता/मन्दता के अनुसार हिंसा का भागीदार होगा।

कोई बहुत आरम्भ, परिग्रह वाला जीव यह कहे कि हमारा परि-ग्रह अधिक है तो क्या हुआ, हमारा इनमे ममत्व नही है। उसका ऐसा कहना सर्वथा झूठ है, क्योकि ममत्वभाव विना बहिरग पदार्थों का सग्रह नही हो सकता। हिंसा मे तो यह सभव है कि परिणामो के विना बाह्य निमित्त से अन्य जीव का घात हो जाये और अन्तरग शुद्ध ही रहे, परन्तु ममत्वभाव के विना बाह्य पदार्थों का संग्रह सभव नही। परिणामो को ममत्वभाव से बचाने के लिए बाह्य परिग्रह का त्याग करना ही चाहिये।

परिग्रह के त्याग करने का उपाय—

तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्त प्रथममेव मिथ्यात्वम्।
सम्यग्दर्शनचौरा· प्रथमकषायाश्च चत्वारः॥
॥ ४-८८-१२४ ॥

अन्वयार्थ—(**प्रथमम्**) पहले (**एव**) ही (**तत्त्वार्थाश्रद्धाने**) तत्त्वार्थ के अश्रद्धान मे जिसने (**निर्युक्त**) सयुक्त किया है ऐसा (**मिथ्या-त्वम्**) मिथ्यात्व (**च**) और (**सम्यग्दर्शनचौराः**) सम्यग्दर्शन के चोर (**चत्वारः**) चार (**प्रथमकषायाः**) प्रथम कषाय—अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया और लोभ हैं।

अर्थ—पहले ही तत्त्वार्थ के अश्रद्धान मे जिसने सयुक्त किया है - ऐसा मिथ्यात्व, और सम्यग्दर्शन के चोर चार प्रथम कषाय—अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया और लोभ हैं ।

विशेषार्थ—इस श्लोक मे अन्तरग परिग्रह के त्याग का उपाय तथा क्रम बताया गया है । अन्तरग परिग्रह मे सबसे पहले मिथ्यात्व है और उसके पश्चात् चारित्रमोहनीय का प्रथम भेद अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ—ये चार है । इस प्रकार सम्यग्दर्शन का घात करने वाली ये पाँच प्रकृतियाँ हैं । जब तक इनका अभाव नही होता तब तक तत्त्वार्थों का अश्रद्धान अथवा विपरीत श्रद्धान बना रहेगा—*यही मिथ्यात्व दशा है । उपर्युक्त पाँच प्रकृतियो के उदयकाल मे* सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सभव नही ।

आठ कर्मों मे मोहनीय कर्म बहुत बलवान है । उसके दो भेद हैं—एक दर्शनमोहनीय तथा दूसरा चारित्रमोहनीय । दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं—(१) मिथ्यात्व (२) सम्यग्मिथ्यात्व तथा (३) सम्यक्त्वप्रकृति । चारित्र मोहनीय के कषाय और नोकषाय—ऐसे दो भेद है । अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी तथा सज्वलन के भेद से कषाय के चार भेद हैं, तथा इनके भी प्रत्येक के क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से चार-चार भेद हैं । इस प्रकार कषाय के सोलह भेद हो जाते हैं । नोकषाय के नौ भेद हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, नपुसकवेद तथा पुरुषवेद । इस प्रकार कुल मिलाकर मोहनीय कर्म के अट्ठाईस भेद हो जाते है । मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चौकडी सम्यग्दर्शन तथा स्वरूपाचरण चारित्र का घात करती है । अप्रत्याख्यानावरणी चौकडी देशचारित्र का, प्रत्याख्यानावरणी चौकडी सकल चारित्र का तथा सज्वलन चौकडी तथा नौ नोकषाय यथाख्यात चारित्र का घात करती हैं ।

अन्तरग परिग्रह का त्याग करने वाला मिथ्यादृष्टि जीव सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, तभी उसे तत्त्वार्थों का यथार्थ श्रद्धान होता है । मिथ्यादृष्टि जीव के भी दो भेद हैं—एक अनादि मिथ्यादृष्टि तथा दूसरा सादि मिथ्यादृष्टि । जिसको अभी तक कभी

भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही हुई, उसे अनादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं। जिसको एक बार सम्यग्दर्शन होकर छूट गया है उसे सादिमिथ्यादृष्टि कहते हैं। जब अनादि मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व को प्राप्त करता है तो वह पाँच प्रकृतियो (मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी चौकडी) का उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय रूप अभाव करके सम्यग्दृष्टि बनता है। जब सादि मिथ्यादृष्टि पुन सम्यक्त्व को प्राप्त करता है तो वह सात अथवा छह अथवा पाँच प्रकृतियो का उपशमादि रूप अभाव करके सम्यग्दृष्टि बनता है। अनन्त ससार का कारण होने से 'अनन्तानुबन्धी नाम रखा गया है। इस प्रकार अन्तरग परिग्रह के त्याग मे सर्वप्रथम ही उपर्युक्त पाँच/सात प्रकृतियो का उपशमादि रूप अभाव करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये, क्योकि वही पुरुषार्थ की सिद्धि का मूल साधन है।

अवशेष भेद—

प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्य सन्मुखायातः।
नियत ते हि कषाया देशचरित्रं निरुन्धन्ति ॥
॥ ४-८६-१२५ ॥

अन्वयार्थ—(**च**) और (**द्वितीयान्**) दूसरी कषाय—अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध-मान-माया-लोभ को (**प्रविहाय**) छोडकर (**देशचरित्रस्य**) एकदेश चारित्र के (**सन्मुखायात**) सन्मुख आता है (**हि**) क्योकि (**ते**) वे (**कषाया**) कषाय (**नियत**) निश्चय ही (**देशचरित्र**) एकदेश चारित्र को (**निरुन्धन्ति**) रोकते हैं।

अर्थ—और दूसरी कषाय—अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध-मान-माया लोभ को छोडकर एकदेश चारित्र के सन्मुख आता है, क्योकि वे कषाय निश्चय ही एकदेश चारित्र को रोकती हैं।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के पश्चात् जीव एकदेश चारित्र की प्रतिपक्षी दूसरी अर्थात् अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध-मान-माया-लोभ का अभाव करके एकदेश चारित्र—श्रावक के व्रत ग्रहण

करता है। अप्रत्याख्यानावरणी चौकडी का अभाव किये बिना एक-देश चारित्र नहीं होता।

निजशक्ति से अन्तरग परिग्रह का त्याग करना चाहिए—

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरंगसंगानाम्।
कर्त्तव्य परिहारो मार्दवशौचादिभावनया॥
॥ ४-६०-१२६ ॥

अन्वयार्थ—(**निजशक्त्या**) अपनी शक्ति अनुसार (**मार्दव-शौचादिभावनया**) मार्दव, शौच आदि दशलक्षण की भावना द्वारा (**शेषाणा**) शेष (**सर्वेषाम्**) सभी (**अन्तरगसगानाम्**) अन्तरग परि-ग्रहो का (**परिहार**) त्याग (**कर्त्तव्य**) करना चाहिए।

अर्थ - अपनी शक्ति अनुसार मार्दव, शौच आदि दशलक्षण धर्म की भावना द्वारा शेष सभी अन्तरग परिग्रहो का त्याग करना चाहिए।

विशेषार्थ—पूर्वकथित एकदेश चारित्र—श्रावक के व्रतो को धारण करके सम्यग्दृष्टि जीव को अपने परिणामो की निरन्तर वृद्धि करनी चाहिये। फिर अपनी शक्ति अनुसार मार्दव, आर्जव, शौचादि भावनाओ के द्वारा आत्म-बल को प्रकट करके प्रत्याख्यानावरणी समस्त कषायो का अभाव करके महाव्रत रूप मुनिधर्म का पालन करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार जीव शनै शनै पूर्णतया निष्कषाय होकर अपने आत्म-स्वभाव मे लीन होकर पुरुषार्थ को सिद्धि करने मे सफल हो सकता है।

बाह्य परिग्रह के त्याग का क्रम—

बहिरगादपि संगात् यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा॥
॥ ४-६१-१२७ ॥

अन्वयार्थ—(**वा**) तथा (**तम्**) उस बहिरंग परिग्रह को (**अचित्तं**) चाहे अचेतन हो (**वा**) या (**सचित्तं**) सचेतन हो (**अशेषं**) सम्पूर्ण रूप से (**परिवर्जयेत्**) छोड़ देना चाहिये (**यस्मात्**) क्योंकि (**बहिरंगात्**) बहिरंग (**संगात्**) परिग्रह से (**अपि**) भी (**अनुचितः**) अयोग्य (**असंयमः**) असयम (**प्रभवति**) होता है।

अर्थ—तथा उस बहिरंग परिग्रह को, चाहे अचेतन हो या सचेतन हो, सम्पूर्ण रूप से छोड देना चाहिए, क्योंकि बहिरग परिग्रह से भी अयोग्य असयम होता है।

विशेषार्थ—श्लोक सख्या ४-८१-११७ मे बहिरग परिग्रह का विस्तार से वर्णन कर आये है। इनमे ससार के प्राय समस्त पदार्थ आ जाते हैं। जब तक चेतन-अचेतन रूप बहिरग परिग्रह रहता है तब तक सयम का पूर्णतया पालन नही हो सकता। पदार्थों के प्रति ममत्वभाव बना रहता है। अतः निर्दोष सयम के पालन के लिये चेतन-अचतन समस्त परिग्रह को सम्पूर्ण रूप से छोड देना चाहिए।

यदि सर्वदेश त्याग संभव न हो सके तो एकदेश त्याग अवश्य करे—

योऽपि न शक्यस्त्यक्तु धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।
सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम्॥
॥ ४-९२-१२८ ॥

अन्वयार्थ—(**अपि**) और (**यः**) जो (**धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि**) धन, धान्य, मनुष्य, घर, सम्पदा इत्यादि परिग्रह (**त्यक्तु**) सर्वथा छोडना (**न शक्यः**) शक्य न हो (**सः**) तो उसे (**अपि**) भी (**तनूकरणीयः**) कम कर देना चाहिए (**यतः**) क्योंकि **तत्त्वम्**) वस्तु का स्वरूप (**निवृत्तिरूपं**) निवृत्तिरूप—त्यागरूप ही है।

अर्थ—और जो धन-धान्य, मनुष्य, घर, सम्पदा इत्यादि परिग्रह सर्वथा छोडना शक्य न हो, तो उसे भी कम कर देना चाहिये, क्योंकि वस्तु का स्वरूप निवृत्तिरूप—त्याग रूप ही है।

विशेषार्थ—परिग्रह के त्याग के भी दो प्रकार हैं—एक सर्वदेश त्याग जोकि मुनिधर्म पालन मे ही सभव है, तथा दूसरा एकदेश त्याग जिसे गृहस्थ/श्रावक ग्रहण करते हैं। यदि बन सके तो पूर्वकथित धन-धान्यादि दस प्रकार के चेतन-अचेतन परिग्रह का सर्वदेश त्याग ही उत्तम है, यदि कदाचित् यह न बन सके तो एकदेश त्याग अवश्य करना चाहिए। एकदेश त्याग का अर्थ है परिग्रहपरिमाण। अपनी आवश्यकतानुसार उक्त प्रकार के पदार्थों का परिमाण करके, उतनी ही मात्रा मे रखना चाहिए तथा शेष का त्याग कर देना चाहिए। जितने अशो मे वस्तुओ के प्रति ममत्व/रागभाव कम करके उनका त्याग करेंगे, उतने ही अशो मे रागादि कम होकर वीतरागता बढ़ेगी। तत्त्व तो त्याग रूप/निवृत्ति रूप ही है। जब तक यह आत्मा त्याग धर्म को अपनाकर अपने निर्मल श्रद्धान-ज्ञान रूप शुद्ध परिणति को नही पाता, तब तक मोक्ष का उपाय नही बनता। निश्चय दृष्टि से देखा जाये तो आत्मा को परवस्तु का त्याग ही है। हमने अपने ममत्व/रागभाव से परवस्तु को पकड रखा है। अत बाह्य वस्तुओ मे ममत्वभाव कम करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है।

रात्रिभोजन-त्याग—

रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसाविरतैस्तस्मात् त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि॥

॥ ४-९३-१२९ ॥

अन्वयार्थ—(**यस्मात्**) क्योकि (**रात्रौ**) रात मे (**भुञ्जानानां**) भोजन करने वालो को (**हिंसा**) हिंसा (**अनवारिता**) अनिवार्य (**भवति**) होती है (**तस्मात्**) इसलिए (**हिंसाविरतैः**) हिंसा के त्यागियो को (**रात्रिभुक्ति अपि**) रात्रि-भोजन का भी (**त्यक्तव्या**) त्याग करना चाहिए।

अर्थ—क्योंकि रात मे भोजन करने वालो को हिंसा अनिवार्य होती है, इसलिए हिंसा के त्यागियो को रात्रि-भोजन का भी त्याग करना चाहिए।

विशेषार्थ—रात्रि मे भोजन करने से जीवों की हिंसा अनिवार्य है, अर्थात् अवश्य ही होती है । पतगे इत्यादि ऐसे बहुत से छोटे-छोटे जीव हैं, जो रात मे घूमते हैं तथा रोशनी के पास प्राय आते हैं । रात्रि-भोजन बनाने तथा खाने मे उन असख्य जीवों को हिंसा होती है । इसलिए रात्रि मे भोजन बनाने-खाने का त्याग अहिंसा-पालन करने वाले के लिए अनिवार्य है ।

रात्रि-भोजन मे भावहिंसा—

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसाम् ।
रात्रिंदिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति ॥

॥ ४-६४-१३० ॥

अन्वयार्थ - (**रागाद्युदयपरत्वात्**) रागादि भावो के उदय की उत्कृष्टता से (**अनिवृत्तिः**) अत्याग भाव (**हिंसाम्**) हिंसा का (**न अतिवर्तते**) उल्लंघन करके नहीं प्रवर्त्तते, तो (**रात्रिंदिवम्**) रात और दिन (**आहरतः**) आहार करने वाले को (**हि**) निश्चय ही (**हिंसा**) हिंसा (**कथं**) क्यो (**न संभवति**) नही संभव होगी ।

अर्थ—रागादि भावो के उदय को उत्कृष्टता से अत्यागभाव हिंसा का उल्लघन करके नही प्रवर्त्तते, तो रात और दिन आहार करने वाले को निश्चय हो हिंसा क्यो नही संभव होगी ? अर्थात् अवश्य होगी ।

विशेषार्थ—जब किसी जीव के रागादि भावो का उत्कृष्ट/तीव्र उदय होता है तो उसके अत्यागभाव होता है, अर्थात् वह त्याग नहीं कर सकता । जो जीव रसना इन्द्रिय के विषय मे अति आसक्त हैं और रात-दिन खाने-पीने मे लगे रहते हैं उनके हिंसा अवश्य होती है, क्योंकि जहाँ रागभाव है, वहाँ हिंसा अनिवार्य है । रागादि भावों का होना ही भावहिंसा का लक्षण है ।

शंका—

यद्येवं तर्हि दिवा कर्त्तव्यो भोजनस्य परिहारः।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥
॥ ४-६५-१३१ ॥

अन्वयार्थ—(**यदि एवं**) यदि ऐसा है अर्थात् सदाकाल भोजन करने मे हिंसा है (**तर्हि**) तब तो (**दिवा भोजनस्य**) दिन मे भोजन करने का (**परिहारः**) त्याग (**कर्त्तव्य**) कर देना चाहिये (**तु**) और (**निशायां**) रात मे (**भोक्तव्यं**) भोजन करना चाहिये क्योंकि (**इत्थं**) इस तरह से (**हिंसा**) हिंसा (**नित्यं**) सदाकाल (**न भवति**) नही होगी।

अर्थ—यदि ऐसा है, अर्थात् सदाकाल भोजन करने मे हिंसा है, तब तो दिन मे भोजन करने का त्याग कर देना चाहिए और रात मे भोजन करना चाहिए, क्योंकि इस तरह से हिंसा सदाकाल नही होगी।

विशेषार्थ—यहां कोई कुतर्की शंका करता है कि यदि दिन-रात सदाकाल भोजन करने मे हिंसा होती है तो दिन मे भोजन का त्याग करके रात मे ही भोजन करना चाहिए ताकि सतत (दिन-रात) हिंसा न हो। इसका उत्तर अगले श्लोक मे कहेंगे।

शंका का समाधान—

नैवं वासरभुक्तेर्भवति हि रागोऽधिको रजनिभुक्तौ।
अन्नकवलस्य भुक्तेर्भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥
॥ ४-६६-१३२ ॥

अन्वयार्थ—(**एवं न**) ऐसा नही है, क्योंकि (**अन्नकवलस्य**) अन्न के ग्रास के (**भुक्तेः**) खाने से (**मांसकवलस्य**) मांस के ग्रास (**भुक्तौ इव**) खाने मे जिस प्रकार राग अधिक होता है, उसी प्रकार (**वासर-**

भुक्तेः) दिन के भोजन की अपेक्षा (रजनिभुक्तौ) रात्रि-भोजन में (हि) निश्चय ही (रागः अधिकः) अधिक राग होता है।

अर्थ—ऐसा नहीं है, क्योंकि अन्न के ग्रास के खाने से मांस के ग्रास खाने मे जिस प्रकार राग अधिक होता है, उसी प्रकार दिन के भोजन की अपेक्षा रात्रि-भोजन मे निश्चय ही अधिक राग होता है।

विशेषार्थ—शकाकार की शका ठीक नही है। पेट भरने की अपेक्षा तो शाकाहार और मासाहार दोनो भोजन बराबर हैं। दूध, फल, अन्न आदि शाकाहार तो सर्वसाधारण को सहज ही सुलभ हैं, इसलिए इनके खाने मे रागभाव कम है। मासाहार सहज सुलभ नहीं है, उनके लिए विशेष प्रयत्न करना पडता है तथा उसमे कामादिक अथवा शरीर-पोषण की अपेक्षा से अधिक रागभाव पाया जाता है। इसी प्रकार दिन मे भोजन सब प्राणियो को सहज ही सुलभ है, इसलिए उसमे रागभाव कम होते हैं। रात्रि-भोजन मे शरीर-पोषण अथवा कामादिक की अपेक्षा से रागभाव अधिक होता है। अत रात्रि भोजन मे अधिक रागभाव के कारण तथा सूक्ष्म जीवो के घात के कारण हिसा होती है। इसके अतिरिक्त दिन मे खाया हुआ भोजन अच्छी तरह पचता है, जिससे स्वास्थ्य ठीक रहता है। इसलिए दिन मे भोजन करना ही श्रेयस्कर है।

रात्रि-भोजन मे द्रव्य हिंसा—

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथ हिंसाम्।
अपि बोधित प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम्॥
॥ ४-९७-१३३ ॥

अन्वयार्थ—(अर्कालोकेन विना) सूर्य के प्रकाश बिना रात में (भुञ्जानः) भोजन करने वाला मनुष्य (बोधितः प्रदीपे) जलते हुए दीपक मे (अपि) भी (भोज्यजुषां) भोजन में मिले हुए (सूक्ष्म-जीवानाम्) सूक्ष्म जीवो की (हिंसाम्) हिसा (कथ) किस प्रकार (परिहरेत्) टाल सकता है?

अर्थ—सूर्य के प्रकाश बिना रात में भोजन करने वाला मनुष्य जलते हुए दीपक (के प्रकाश) मे भी भोजन मे मिले हुए सूक्ष्म जीवो की हिसा किस प्रकार टाल सकता है ? अर्थात् नही टाल सकता।

विशेषार्थ—सूर्य के प्रकाश के अभाव मे यदि दीपक अथवा बिजली के प्रकाश मे अत्यन्त सावधानी रक्खी जाये तो भी भोजन मे रोशनी के सम्बन्ध से तथा खाद्य पदार्थ के सम्बन्ध से आने वाले छोटे-छोटे पतगे तथा मच्छर आदि अवश्य गिरते हैं, जिनका घात निश्चित ही है। यदि दीपक इत्यादि की रोशनी के बिना ही अन्धेरे मे कोई भोजन करता है तो उसके आहार मे चूहा, छिपकली आदि बडे जीव भी गिर पडें तो उनका पता नही चलता, जिसके परिणामस्वरूप भोजन खाने वाले व्यक्तियो की मृत्यु की घटनाये रोज ही सुनने-देखने मे आती हैं। रात मे भोजन करने वाले जीव द्रव्य तथा भाव दोनो प्रकार की हिसा का भागी हैं। अत अहिसाव्रत पालन के लिए रात्रि भोजन का त्याग अवश्य करना चाहिये।

रात्रिभोजन त्याग मे अहिसा का पालन—

कि वा बहुप्रलपितैरिति सिद्ध यो मनोवचनकायै·।
परिहरति रात्रिभुक्ति सततमहिंसां स पालयति ॥
॥ ४-६८-१३४ ॥

अन्वयार्थ—(**वा**) अथवा (**बहुप्रलपितैः**) बहुत प्रलाप से (**कि**) क्या ? (**यः**) जो पुरुष (**मनोवचनकायै·**) मन, वचन और काय से (**रात्रिभुक्ति**) रात्रि-भोजन का (**परिहरति**) त्याग करता है (**सः**) वह (**सततम्**) निरन्तर (**अहिसा**) अहिसा का (**पालयति**) पालन करता है (**इति सिद्धं**) ऐसा सिद्ध हुआ।

अर्थ—अथवा बहुत प्रलाप से क्या ? जो पुरुष मन, वचन और काय से रात्रि-भोजन का त्याग करता है, वह निरन्तर अहिसा का पालन करता है। ऐसा सिद्ध हुआ।

विशेषार्थ—आचार्यश्री कहते हैं कि बहुत कहने से कोई लाभ नहीं है। यह बात निर्बाध सिद्ध होती है कि जो पुण्यात्मा मन, वचन और काय से रात्रि-भोजन का परित्याग करता है, वही अहिंसाव्रत का निरन्तर पालन करता है। रात्रि मे भोजन खाने की अपेक्षा रात्रि मे भोजन पकाने मे बहुत जीवो को हिंसा होती है, इसलिए व्रती पुरुष को सबसे पहले इसका त्याग करना चाहिये। बाजार के बने हुये पदार्थों का त्याग करना भी अति आवश्यक है। वास्तव मे रात्रि मे भोजन पकाने, खाने तथा बाजार के बने हुए पदार्थों के त्याग बिना अहिंसाव्रत का पालन सभव हो नही है। कोई आचार्य तो रात्रि भोजन के त्याग को अहिंसाणुव्रत मे शामिल करते है तथा कोई इसे स्वतन्त्र रूप से छठा अणुव्रत कहते हैं।

इस प्रकार रत्नत्रयात्मक मार्ग मे लगे हुए जीव शीघ्र ही मोक्ष मे गमन करते है—

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण॥
॥ ४-६६-१३५ ॥

अन्वयार्थ—(**इति**) इस प्रकार (**अत्र**) इस लोक में (**ये**) जो (**स्वहितकामा:**) अपने हित की कामना करने वाले (**मोक्षस्य**) मोक्ष के (**त्रितयात्मनि**) रत्नत्रयात्मक (**मार्गे**) मार्ग मे (**अनुपरतं**) सर्वदा विना रुके - निरन्त (**प्रयतन्ते**) प्रयत्न करते हैं (ते) वे पुरुष (**अचि-रेण**) शीघ्र ही (**मुक्तिम्**) मोक्ष को (**प्रयान्ति**) गमन करते हैं।

अर्थ—इस प्रकार इस लोक मे जो अपने हित की कामना करने वाले, मोक्ष के रत्नत्रयात्मक मार्ग मे सर्वदा विना रुके हुए—निरन्तर प्रयत्न करते हैं, वे पुरुष शीघ्र ही मोक्ष को गमन करते हैं।

विशेषार्थ—जीव का हित मोक्ष-प्राप्ति मे ही है। इस लोक में अपने हित की कामना करने वाले जो भव्यजीव पूर्व कथन के अनुसार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग का सतत—निरन्तर

अनुसरण करते हैं, वे शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। संसार मे कही भी सुख नहीं है। जो जीव सच्चे सुख के अभिलाषी हैं, उन्हें रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग मे सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये। जो जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करके सम्यक्चारित्र को धारण करते हैं, वे जल्दी ही मोक्ष की प्राप्ति करते हैं।

इस प्रकार पांच पापो के त्यागरूप पांच अणुव्रतो तथा रात्रि भोजन त्याग का वर्णन समाप्त हुआ।

शीलव्रत (गुणव्रत और शिक्षाव्रत) अहिंसाणुव्रतादि की रक्षा करते हैं—

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि॥
॥ ४-१००-१३६ ॥

अन्वयार्थ—(**किल**) निश्चय ही (**परिधय इव**) जैसे कोट, किला (**नगराणि**) नगरो की रक्षा करता है, उसी तरह (**शीलानि**) शीलव्रत—तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—ये सात व्रत (**व्रतानि**) पांचो अणुव्रतो का (**पालयन्ति**) पालन अर्थात् रक्षण करते हैं (**तस्मात्**) इसलिए (**व्रतपालनाय**) व्रतो का पालन करने के लिए (**शीलानि**) सात शीलव्रतो का (**अपि**) भी (**पालनीयानि**) पालन करना चाहिये।

अर्थ—निश्चय ही जैसे कोट-किला नगरो की रक्षा करता है, उसी तरह शीलव्रत—तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—ये सात व्रत पांचो अणुव्रतो का पालन अर्थात् रक्षण करते हैं। इसलिए व्रतो का पालन करने के लिए सात शीलव्रतो का भी पालन करना चाहिये।

विशेषार्थ—जिस प्रकार कोट-किला नगरो की रक्षा करता है, अथवा खेत के चारो ओर लगाई हुई बाड खेती की रक्षा करती है,

उसी प्रकार सात शीलव्रत पाँच अणुव्रतों की रक्षा करते हैं। इसलिए पाँच अणुव्रतों के साथ-साथ शील व्रतों का भी पालन अवश्य करना चाहिये। गुणव्रत और शिक्षाव्रत के भेद से शीलव्रत दो प्रकार के हैं। (१) दिग्व्रत, (२) देशव्रत तथा (३) अनर्थदण्डत्यागव्रत—ये तीन गुणव्रत हैं तथा (१) सामायिक, (२) प्रोषधोपवास, (३) भोगोपभोग परिमाणव्रत तथा (४) वैयावृत्य/अतिथि सविभाग—ये चार शिक्षाव्रत हैं। आगे के श्लोको मे इन व्रतो का स्वरूप कहेंगे।

दिग्व्रत नामक पहले गुणव्रत का स्वरूप—

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोऽप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्य कर्त्तव्या विरतिरविचलिता॥

॥ ४-१०१-१३७ ॥

अन्वयार्थ—(**सुप्रसिद्धैः**) भली प्रकार प्रसिद्ध (**अभिज्ञानैः**) ग्राम, नदी, पर्वत आदि भिन्न-भिन्न लक्षणो से (**सर्वतः अपि**) सभी दिशाओ मे (**मर्यादा**) मर्यादा (**प्रविधाय**) करके (**प्राच्यादिभ्यः**) पूर्वादि (**दिग्भ्य**) दिशाओ मे (**अविचलिता विरतिः**) गमन न करने की प्रतिज्ञा (**कर्त्तव्या**) करनी चाहिये।

अर्थ—भली प्रकार प्रसिद्ध ग्राम, नदी, पर्वतादि भिन्न-भिन्न लक्षणो से सभी दिशाओ मे मर्यादा करके पूर्वादि दिशाओ मे गमन न करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिये।

विशेषार्थ—प्रथम गुणव्रत का नाम 'दिग्व्रत' है। 'दिग्' का अर्थ है दिशा। जिसमे चारों दिशाओ मे (पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण), चारो विदिशाओं मे (दक्षिणपूर्व, दक्षिणपश्चिम, उत्तरपश्चिम तथा उत्तरपूर्व) तथा ऊपर नीचे—इस प्रकार दशों दिशाओं मे गमनागमन की सीमा निर्धारित करके यह प्रतिज्ञा की जाती है कि 'मैं जीवन पर्यन्त इन दस दिशाओं में मर्यादित की गई सीमा के बाहर नहीं जाऊँगा', उसे 'दिग्व्रत' कहते हैं। यह प्रतिज्ञा दिशाओं

और विदिशाओं मे सुप्रसिद्ध नदी, पर्वत, नगर आदि से सीमा बाधकर की जाती है। पर्वत इत्यादि अथवा वायुयान मे बैठकर जाने की अपेक्षा ऊपर की तथा खान या बावडी इत्यादि की अपेक्षा नीचे की सीमा निर्धारित की जाती है। व्रतधारी पुरुष इन निर्धारित सीमाओ के बाहर नही जाता।

दिग्व्रत पालन का फल—

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य।
सकलासंयमविरहाद्भवत्यहिंसाव्रत पूर्णम् ॥
॥ ४-१०२-१३८ ॥

अन्वयार्थ—(**य**) जो (**इति**) इस प्रकार (**नियमितदिग्भागे**) मर्यादा की हुई दिशाओ के अन्दर (**प्रवर्तते**) रहता है (**तस्य**) उस पुरुष को (**ततः**) उस क्षेत्र के (**बहि**) बाहर के (**सकलासयमविरहात्**) समस्त असयम के त्याग के कारण (**पूर्णम्**) पूर्ण रूप से (**अहिंसाव्रत**) अहिंसाव्रत (**भवति**) होता है।

अर्थ—जो इस प्रकार मर्यादा की हुई दिशाओ के अन्दर रहता है, उस पुरुष को उस क्षेत्र के बाहर के समस्त असयम के त्याग के कारण पूर्ण रूप से अहिसाव्रत होता है।

विशेषार्थ—दिग्व्रत का धारण करने वाला पुरुष दशो दिशाओ मे मर्यादित किए गये क्षेत्र मे ही कार्य करता है। मर्यादित क्षेत्र के बाहर सब ही प्रकार के असंयम (आरभ आदि जनित पाप) का त्याग होने के कारण उसके अहिंसा महाव्रत पल जाता है, क्योकि उस क्षेत्र मे सभी सूक्ष्म पाप भी छूट जाते हैं। इस प्रकार अणुव्रत भी महाव्रत का फल देता है। दिग्व्रत का पालन अहिसाव्रत को पुष्ट करता है।

देशव्रत नामक दूसरे गुणव्रत का स्वरूप—

तत्रापि च परिमाण ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्।
प्रविधाय नियतकाल करणीय विरमणं देशात् ॥
॥ ४-१०३-१३९ ॥

अन्वयार्थ—(**च**) और (**तत्र अपि**) उस दिग्व्रत मे भी (**ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्**) ग्राम, बाजार, मकान, मोहल्ला इत्यादि क्षेत्र (**परिमाणं**) परिमाण (**प्रविधाय**) करके (**देशात्**) मर्यादा किए हुये क्षेत्र से बाहर (**नियतकालं**) निर्धारित समय तक जाने का (**विरमणं**) त्याग (**करणीय**) करना चाहिये।

अर्थ—और उस दिग्व्रत मे भी ग्राम, बाजार, मकान, मोहल्ला इत्यादि का परिमाण करके मर्यादा किये हुये क्षेत्र से बाहर निर्धारित समय तक जाने का त्याग करना चाहिये।

विशेषार्थ—दूसरे गुणव्रत को 'देशव्रत' कहते है। दिग्व्रत और देशव्रत मे इतना ही अन्तर है कि दिग्व्रत मे जो त्याग किया जाता है वह जीवनपर्यन्त होता है, परन्तु देशव्रत मे काल की मर्यादा सहित क्षेत्र का त्याग किया जाता है। अर्थात् एक दिन, एक सप्ताह, एक पक्ष, एक मास, छह मास अथवा एक वर्ष इत्यादि की निश्चित अवधि के लिए त्याग किया जाता है। दिग्व्रत मे जितने क्षेत्र की मर्यादा की गई थी, देशव्रत मे उस मर्यादा का भी संकोच करके (घटाकर) दिग्व्रत की मर्यादा के अन्दर भी मर्यादा निर्धारित की जाती है। 'मैं अमुक समय तक अमुक ग्राम, बाजार अथवा मोहल्ला इत्यादि तक ही जाऊँगा'। इस प्रकार प्रतिज्ञा करना देशव्रत है। देशव्रत से भी अहिंसाव्रत की पुष्टि होती है।

देशव्रत मे विशेषरूप से अहिंसाव्रत का पालन—

इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण ॥
॥ ४-१०४-१४० ॥

अन्वयार्थ—(**इति**) इस प्रकार (**बहुदेशात् विरतः**) बहुत क्षेत्र का त्याग करने वाला (**विमलमतिः**) निर्मलबुद्धि श्रावक (**तत्कालं**) उस निर्धारित काल मे (**तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्**) मर्यादाकृत क्षेत्र से उत्पन्न होने वाली हिंसा-विशेष के त्याग से (**विशेषेण**) विशेष-

रूप से (अहिंसा) अहिंसाव्रत का (श्रयति) आश्रय करता है—पालता है।

अर्थ—इस प्रकार बहुत क्षेत्र का त्याग करने वाला निर्मलबुद्धि श्रावक उस निर्धारित काल मे, मर्यादाकृत क्षेत्र से उत्पन्न होने वाली हिंसा-विशेष के त्याग से विशेषरूप से अहिंसाव्रत का आश्रय करता है—पालता है।

विशेषार्थ—दिग्व्रत मे मर्यादित क्षेत्र बहुत बडा होता है। इतने बडे क्षेत्र मे प्रतिदिन गमनागमन नही होता। इसलिये निर्मलबुद्धि वाला श्रावक रोजाना ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि 'मैं आज अमुक बाजार या मोहल्ले तक ही जाऊंगा। अथवा अमुक गांव मे अमुक समय तक रहूँगा, इसके बाहर नही जाऊंगा'। जिस प्रकार दिग्व्रत मे मर्यादित क्षेत्र के बाहर अहिसा का सर्वथा त्याग हो जाता है, उसी प्रकार देशव्रत मे भी मर्यादित क्षेत्र के बाहर कदाचित् हिंसा का त्याग होने से यह (देशव्रत) अणुव्रत होते हुए भी महाव्रतपने को प्राप्त हो जाता है। वास्तव मे यह कथन औपचारिक/व्यावहारिक है, परमार्थ नही, क्योंकि महाव्रत तो प्रत्याख्यानावरणी चौकडी के अभाव मे छठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज को ही होते हैं, उससे नीचे पद मे नही होते। श्रावक अणुव्रतधारी होने से सयतासयत ही है।

अनर्थदण्डत्याग व्रत नामक तीसरे गुणव्रत का स्वरूप तथा भेद—

जिन कार्यों से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नही होता उन्हे 'अनर्थ' कहते हैं। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति 'दण्ड' कहलाती है। अर्थात् विना किसी प्रयोजन के मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को 'अनर्थदण्ड' कहते है। इस प्रकार पाप के उत्पन्न करने वाली प्रवृत्ति का त्याग 'अनर्थदण्डत्यागव्रत' कहलाता है। उसके पांच भेद हैं—(१) अपध्यानअनर्थदण्डत्यागव्रत, (२) पापोपदेशअनर्थदण्डत्यागव्रत, (३) प्रमादचर्याअनर्थदण्डत्यागव्रत, (४) हिंसादानअनर्थदण्डत्यागव्रत तथा (५) दुःश्रुतिअनर्थदण्डत्यागव्रत।

अपध्यानअनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप—

पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारागमनचौर्याद्याः ।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ॥
॥ ४-१०५-१४१ ॥

अन्वयार्थ — (पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारागमनचौर्याद्याः) शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी आदि का (कदाचनापि) किसी भी समय (न चिन्त्याः) चिन्तन नही करना चाहिये (यस्मात्) क्योंकि इन अपध्यानो का (केवलं) केवल (पापफलं) पाप ही फल है ।

अर्थ—शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी आदि का किसी भी समय चिन्तन नहीं करना चाहिए, क्योकि इन अपध्यानो का केवल पाप ही फल है ।

विशेषार्थ—यह तीसरे गुणव्रत अनर्थदण्डत्यागव्रत के प्रथम भेद 'अपध्यानानर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप है । अपध्यान का अर्थ है खोटा ध्यान । मन मे राग-द्वेष के कारण दुर्विचारो का आना ही अपध्यान है । अपध्यान करने से किसी का भला-बुरा तो सभव नही है, परन्तु इसमे मानसिक हिसा होने से व्यर्थ ही पाप का बन्ध अनिवार्य रूप से होता रहता है । अतः शिकार करने के, किसी के जीत के और किसी के हार के, युद्ध के, परस्त्री-सेवन के अथवा चोरी आदि के तथा अन्य भी किसी के छेदन, भेदन, बन्धन इत्यादि का चिन्तन करना अथवा ऐसे परिणाम करना—ये सब ही अपध्यान होने से पापबन्ध के कारण हैं । अत विशेष सावधानी पूर्वक इन कुविचारो/कुपरिणामो का त्याग करना ही चाहिये । यही अपध्यानअनर्थदण्डत्यागव्रत कहलाता है ।

पापोपदेशअनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप—

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुसाम् ।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥
॥ ४-१०६-१४२ ॥

अन्वयार्थ—(विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां) विद्या, व्यापार, लेखनकला, खेती, नौकरी और कारीगरी से निर्वाह करने वाले (पुंसाम्) पुरुषो को (पापोपदेशदानं) पाप का उपदेश देने वाले वचन (कदाचित् अपि) किसी भी समय (नैव) नही (वक्तव्यम्) बोलना चाहिये।

अर्थ—विद्या, व्यापार लेखनकला, खेती, नौकरी और कारीगरी से निर्वाह करने वाले पुरुषो को पाप का उपदेश देने वाले वचन किसी भी समय अर्थात् कभी भी नही बोलना चाहिये।

विशेषार्थ—यह 'पापोपदेशअनर्थदण्डत्यागव्रत' का स्वरूप है। किसी व्यक्ति को आजीविका सम्बन्धी नाना प्रकार के आरम्भ कार्य करने का उपदेश देना 'पापोपदेश' कहलाता है। उपदेश सुनकर लोग पापयुक्त कार्यों मे लगते है। ऐसे उपदेश से स्वयं को तो कुछ लाभ नही होता, जीवो को हिसा का कारण होने से पापकर्म का बन्ध ही होता है। इसलिये वैद्यक, ज्योतिष इत्यादि विद्या से, पशुपालन इत्यादि व्यापार से, लेखन कार्य से, खेती-बाडी से नौकरी-चाकरी से तथा लुहार, सुनार, दर्जी, बढई इत्यादि कारीगरी के कार्यों से जीविका कमाने वालो को इन कार्यों सम्बन्धी तथा अन्य भी हिसा जनक कार्यों का कभी भी उपदेश नही देना चाहिये। ऐसे समस्त उपदेशो का त्याग करना पापोपदेशअनर्थदण्डत्यागव्रत कहलाता है।

प्रमादचर्याअनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप—

भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च॥

॥ ४-१०७-१४३ ॥

अन्वयार्थ—(भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि) पृथ्वी खोदना, वृक्ष उखाडना, अतिशय घास वाली भूमि रौंदना, पानी सीचना इत्यादि (च) और (दलफलकुसुमोच्चयान्) पत्ते फल और

फूल तोडना (अपि) इत्यादि भी (निष्कारण) बिना प्रयोजन (न कुर्यात्) नही करना चाहिये।

अर्थ—पृथ्वी खोदना, वृक्ष उखाडना, अतिशय घास वाली भूमि रौंदना, पानी सीचना इत्यादि और पत्ते, फल और फूल तोडना इत्यादि भी विना प्रयोजन नही करना चाहिए।

विशेषार्थ—यह प्रमादचर्याअनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप है। निष्प्रयोजन असावधानीपूर्वक कोई भी कार्य करना 'प्रमादचर्या' है। श्रावक को अपनी आवश्यकतानुसार गृहस्थी सम्बन्धी आरम्भ कार्य करने ही पडते है। आरम्भ कार्य करते हुए वह त्रस जीवो की रक्षा तो करता ही है, परन्तु यथाशक्ति उसे स्थावर जीवो की भी रक्षा करनी चाहिये। निष्प्रयोजन उनका भी घात नही करना चाहिये। विना प्रयोजन भूमि खोदना-कुरेदना, वृक्ष उखाडना, घास पर चलना अथवा बैठे-बैठे घास चूंटना या उखेडना, पानी सीचना, उछालना, बावडी इत्यादि मे घटो मे क्रीडा करना, वनस्पति—पत्ता, फल-फूल इत्यादि का व्यर्थ तोडना, अग्नि जलाना-बुझाना, बैठे-बैठे माचिस की तीली जलाना—इन सबको प्रमादचर्या कहते हैं। कुछ लोग केवल मनोरजनादि के लिये उपर्युक्त क्रियाएँ करते देखे जाते हैं। इन क्रियाओ से अपना भी प्रयोजन/काम सिद्ध नही होता, परन्तु जीवो की हिंसा अवश्य होती है जोकि पापकर्म बन्ध का कारण है। ऐसी निष्प्रयोजन क्रियाओ के त्याग को ही प्रमादचर्याअनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं।

हिंसाप्रदानअनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप—

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम्।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात्॥

॥४-१०८-१४४॥

अन्वयार्थ — (असिधेनु-विष-हुताशन-लाङ्गल-करवाल- कार्मुकादीनाम्) छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष आदि (हिंसाया) हिंसा के (उपकरणानां) उपकरणो का (वितरणम्) वितरण करना

—दूसरों को देना (प्रमात्) सावधानी से (परिहरेत्) छोड़ देना चाहिए।

अर्थ—छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष आदि हिंसा के उपकरणों का वितरण करना—दूसरो को देना सावधानो से छोड देना चाहिये।

विशेषार्थ—यहाँ हिंसादानअनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप कहा गया है। छुरी, तलवार, फरसा, गण्डासा, कुल्हाडा, विष, अग्नि, हल गेती, फावडा, धनुष, पिस्तौल, बन्दूक इत्यादि पदार्थ हिंसा के साधन हैं। एक श्रावक/गृहस्थ अपनी रक्षा हेतु अथवा अन्य आरभी कार्यों के लिए इन्हें अपने पास रख तो सकता है, परन्तु अन्य व्यक्ति को नही देना चाहिये। हो सकता है वह व्यक्ति इनका दुरुपयोग करके किसी का घर जलादे, अथवा विष देकर या अन्य प्रकार शस्त्र से किसी की हिसा करदे, इसलिए इन उपकरणो का अन्य को देना 'हिंसादान' कहा गया है। जिन पदार्थों के देने से हिंसा की सभावना हो, उनके देने का त्याग करना 'हिसादानअनर्थदण्डत्यागव्रत कहलाता है।

दु श्रुतिअनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप—

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम् ।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥
॥ ४-१०६-१४५ ॥

अन्वयार्थ—(रागादिवर्द्धनानां) मोह, राग-द्वेष आदि को बढ़ाने वाली तथा (अबोधबहुलानाम्) बहुत अशों मे अज्ञान से भरी हुई (दुष्टकथानाम्) दुष्ट कथाओ का (श्रवण-अर्जन-शिक्षणादीनि) सुनना, धारण करना, सीखना आदि (कदाचन) कभी भी (न कुर्वीत) नहीं करना चाहिये।

अर्थ—मोह, राग-द्वेष आदि को बढ़ाने वाली तथा बहुत अशो में अज्ञान से भरी हुई दुष्ट कथाओ का सुनना, धारण करना, सीखना आदि कभी भी नहीं करना चाहिये।

विशेषार्थ—यह दुःश्रुतिअनर्थदण्डत्यागव्रत का स्वरूप है। जिस शास्त्र अथवा कथा के सुनने-पढने से चित्त मे कलुषता उत्पन्न हो, मिथ्यात्व, राग-द्वेष तथा वैरभाव का पोषण हो, मोह, अहकार, काम-सेवन इत्यादि विषय-कषायो की वृद्धि होती हो, राजकथा, चोरकथा, भोजनकथा तथा स्त्रीकथा आदि जिनसे सक्लेश उत्पन्न हो—उन्हें 'दु श्रुति' कहते हैं। इनके पठन-पाठन तथा श्रवण आदि से मन मे व्यर्थ ही कुविचार उत्पन्न होते हैं, जिनसे कोई प्रयोजन तो सिद्ध नहीं होता, परन्तु पापकर्म का बन्ध अवश्य होता है। अत. ऐसे शास्त्र इत्यादि का पठन-श्रवण का त्याग करना चाहिए। इसी को 'दु श्रुति-अनर्थदण्डत्यागव्रत' कहते हैं।

जुआ भी त्यागना चाहिए—

सर्वानर्थप्रथम मथनं शौचस्य सद्म मायायाः।
दूरात्परिहरणीय चौर्यासत्यास्पद द्यूतम् ॥
॥ ४-११०-१४६ ॥

अन्वयार्थ—(**सर्वानर्थप्रथम**) सप्त व्यसनो मे पहला—सब अनर्थो मे मुख्य (**शौचस्य**) सन्तोष का (**मथनं**) नाश करने वाला (**मायाया**) मायाचार का (**सद्म**) घर और (**चौर्यासत्यास्पद**) चौर्य तथा असत्य का स्थान (**द्यूतम्**) ऐसे जुआ को (**दूरात्**) दूर ही से (**परि-हरणीयम्**) त्याग देना चाहिये।

अर्थ—*सप्त व्यसनो मे पहला—सब अनर्थों मे मुख्य*, सन्तोष का नाश करने वाला, मायाचार का घर और चोरी तथा असत्य का स्थान—ऐसे जुआ को दूर ही से त्याग देना चाहिये।

विशेषार्थ—आचार्यश्री जुआ का व्यसन त्यागने की प्रेरणा देते हुए उसके दोषो को बतलाते हैं। रुपया-पैसा, सोना-चाँदी, घर-मकान आदि की हार-जीत की बाजी लगाकर क्रीडा करना 'जुआ' है। जिस कार्य के किये विना चित्त को चैन नही पडे उसे '*व्यसन*' कहते हैं। सप्तव्यसनो मे सबसे पहले जुआ का नम्बर है। जुआ महान

निंद्य व्यसन है तथा समस्त पापो की जड है। जुआ खेलने वाला अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए झूठ बोलता है, चोरी करता है, मायाचार करता है, वेश्यागमन करता है, मदिरापान करता है तथा मास भक्षण करता है। ऐसा कौनसा व्यसन है जो जुआरी मे न पाया जाये। जुआ सब अनर्थों की जड है। तीव्र लोभ कषाय होने से सन्तोष नामक गुण का नाश करने वाला है। युधिष्ठर, भीम इत्यादि के तथा राजा नल इत्यादि के उदाहरण हमारे सामने है, जो अपना समस्त राज-पाट जुआ मे लुटाकर वन-वन मारे-मारे फिरे तथा अनेक कष्टो को भोगा। जुआरी जीव महान पापो का सचय करता है, अत जुआ का भी त्याग अवश्य करना चाहिये।

जो अनर्थदण्ड का त्याग करता है वह अहिंसाव्रत को प्राप्त करता है—

एवविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्ड य.।
तस्यानिशमनवद्य विजयमहिंसाव्रत लभते ॥

॥ ४-१११-१४७ ॥

अन्वयार्थ– (**य**) जो मनुष्य (**एवंविधम्**) इस प्रकार के (**अपरमपि**) तथा अन्य भी (**अनर्थदण्ड**) अनर्थदण्ड को (**ज्ञात्वा**) जानकर (**मुञ्चति**) छोडता है (**तस्य**) उसका (**अनवद्यं**) निर्दोष (**अहिंसाव्रत**) अहिंसाव्रत (**अनिशं**) निरन्तर (**विजयम्**) विजय को (**लभते**) प्राप्त करता है।

अर्थ—जो मनुष्य इस प्रकार के तथा अन्य भी अनर्थदण्ड को जानकर छोडता है, उसका निर्दोष अहिंसाव्रत निरन्तर विजय को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—अब तक अनेक अनर्थदण्डो का वर्णन किया गया। इस श्लोक मे आचार्यश्री प्रेरणा देते हैं कि उक्त अनर्थदण्डो के अलावा अन्य और भी जो निष्प्रयोजन पापक्रिया हैं उन्हे भी भली प्रकार परीक्षा करके–जानकर छोड देना चाहिए। जो भव्य जीव समस्त

अनर्थदण्डो का त्याग करता है, उसका अहिंसाव्रत निर्दोष पलता है तथा ऐसा जीव सदा ही पुण्य का बन्ध करके पापकर्मों की निर्जरा करता है, अत. अनर्थदण्डो का त्याग अवश्य करना चाहिये।

पहले सामायिक शिक्षाव्रत का स्वरूप—

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम्॥
॥ ४-११२-१४८ ॥

अन्वयार्थ—(**रागद्वेषत्यागात्**) रागद्वेष के त्याग से (**निखिल-द्रव्येषु**) सभी इष्ट-अनिष्ट पदार्थों मे (**साम्यम्**) समताभाव को (**अवलम्ब्य**) अगीकार करके (**तत्त्वोपलब्धिमूलं**) आत्म तत्त्व की प्राप्ति का मूल कारण—ऐसी (**सामायिकं**) सामायिक (**बहुशः**) बहुत बार (**कार्यम्**) करनी चाहिए।

अर्थ—रागद्वेष के त्याग से सभी इष्ट-अनिष्ट पदार्थों मे समता-भाव को अगीकार करके आत्म तत्त्व की प्राप्ति का मूल कारण—ऐसी सामायिक बहुत बार करनी चाहिए।

विशेषार्थ—शिक्षाव्रतो मे मुनिधर्म धारण करने की शिक्षा मिलती है, इसलिये इन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। यह प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत का स्वरूप है। जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्रादि समस्त इष्टानिष्ट पदार्थों के प्रति रागद्वेष के त्यागपूर्वक समताभाव धारण करके निज-शुद्धात्म स्वरूप मे एकता प्राप्त करना—मग्न होना, अथवा शुद्धात्म स्वरूप का जानना—अनुभव करना सामायिक है। सामायिक मे समताभाव आवश्यक है, इसके विना सामायिक असभव है। श्रावकों/गृहस्थो को ऐसी सामायिक दो या तीन बार अवश्य करनी चाहिये।

सामायिक कब और किस प्रकार करनी चाहिये—

रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम्।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम्॥
॥ ४-११३-१४९ ॥

अन्वयार्थ—(**तत्**) वह सामायिक (**रजनीदिनयोः अन्ते**) रात्रि और दिन के अन्त मे—प्रात· काल और सन्ध्या काल में (**अविचलितम्**) एकाग्रतापूर्वक (**अवश्य**) अवश्य (**भावनीयम्**) करनी चाहिये (**पुनः**) और यदि (**इतरत्र समये**) अन्य समय मे भी (**कृतं**) करी जाये तो (**तत्कृतम्**) वह सामायिक कार्य (**दोषाय**) दोष के लिए (**न**) नही है बल्कि (**गुणाय**) गुण के लिए ही होती है।

अर्थ—वह सामायिक रात्रि और दिन के अन्त मे—प्रात काल और सन्ध्याकाल मे एकाग्रतापूर्वक अवश्य करनी चाहिए, और यदि अन्य समय मे भी करी जाये, तो वह सामायिक कार्य दोष के लिए नही है बलिक गुण के लिए ही होती है।

विशेषार्थ—यूं तो सामायिक किसी समय भी जब इच्छा हो की जा सकती है, इससे लाभ ही लाभ है, कोई नुकसान नही है। परन्तु गृहस्थ दिन भर कार्यों मे व्यस्त रहता है, इसलिये उसके लिए प्रात तथा सन्ध्या दोनो काल सामायिक करने की आज्ञा दी गई है। अत श्रावक को दो समय अथवा तीन समय उत्कृष्ट छह घडी, मध्यम चार घडी अथवा जघन्य दो घडी तक पाँचो पापो का, आरभ तथा परिग्रह का त्याग करके समताभाव पूर्वक एकान्त निर्जन स्थान मे सामायिक करनी चाहिये। सामायिक के लिये क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि, आसनशुद्धि, विनयशुद्धि, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि तथा भावशुद्धि—इन आठ शुद्धियो का होना आवश्यक है। इनके विना भाव निर्मल और निश्चल नही हो पाते हैं। इन आठ शुद्धियो का सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

(१) क्षेत्रशुद्धि—जिस क्षेत्र मे सामायिक करे, उसका चुनाव एकाग्रता की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। यह स्थान स्त्री-पुरुष के आवागमन, बच्चो के कोलाहल तथा सर्दी-गरमी और मच्छर-मक्खी की बाधा रहित, एकान्त तथा निर्जन होना चाहिए।

(२) कालशुद्धि—सही समय पर सामायिक प्रारम्भ तथा समाप्त करना 'कालशुद्धि' है। जितने सामायिक काल को प्रतिज्ञा

की गई हो उसका आधा समय सूर्योदय से पहले तथा आधा समय सूर्योदय के पश्चात् तक सामायिक करना चाहिये। इसी प्रकार सन्ध्या काल में भी आधा समय सूर्य-अस्त होने से पहले तथा आधा समय सूर्य-अस्त के बाद तक सामायिक मे बिताना चाहिए।

(३) आसनशुद्धि—जिस आसन से सामायिक प्रारम्भ करें उसी में स्थिर रहना, उससे चलायमान नहीं होना, हिलना-डुलना नहीं 'आसनशुद्धि' है।

(४)— विनयशुद्धि—सामायिक क्रिया मे श्रद्धा, भक्ति, रुचि और विनयपूर्वक प्रवर्तन करना 'विनयशुद्धि है। सामायिक को बेगार समझकर नही करना चाहिए।

(५) मनशुद्धि—मन से रागद्वेष का, पाँचो पापो का तथा इष्टानिष्ट बुद्धि का त्याग करना, मन से खोटा चिन्तन नहीं करना अथवा मन को अन्यथा नही भटकाना 'मनशुद्धि' है।

(६) वचनशुद्धि—समस्त खोटे वचनो का त्याग करना, सामायिक पाठ/मन्त्र का शुद्ध उच्चारण करना 'वचनशुद्धि' है। वचन की प्रवृत्ति रोककर मौन धारण करना चाहिये।

(७) कायशुद्धि—शरीर की स्वच्छता का होना भी आवश्यक है। शरीर की स्वच्छता का मन पर भारी प्रभाव पडता है। ध्यान रखें कि शरीर मल-मूत्रादि से अपवित्र न हो। शरीर शुद्धि ही 'काय-शुद्धि' है।

(८) भावशुद्धि—प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव, करुणाभाव सहित, रागद्वेष रहित, भावो की निर्मलता पूर्वक सामायिक करना 'भावशुद्धि' है।

सामायिक की विधि—

अंगों को भूमि से लगाकर नमन करना 'नमस्कार' है। बन्द कमल के समान हाथ जोडकर प्रदक्षिणा रूप दायें से बायें (clock

wise) हाथ घुमाना 'आवर्त' है। हाथ जोड़कर मस्तक झुकाना 'शिरोनति' है।

सामायिक करने वाले व्यक्ति को किसी निर्जन/एकान्त स्थान मे उत्तर अथवा पूर्व दिशा मे मुंह करके खडे होकर/बैठकर मन, वचन, काय इत्यादि की शुद्धिपूर्वक, समस्त परिग्रह को उतने काल के लिए त्याग कर तथा शरीर से भी ममत्व हटाकर सामायिक प्रारम्भ करनी चाहिये। गरदन और कमर को सीधा रखे क्योकि रीढ की हड्डी के साथ एकाग्रता का भारी सम्बन्ध है। अपने नेत्र और कानो को भीतर की ओर उन्मुख करें तथा नेत्रो को नाक के आगे भाग पर टिका दे। श्वास की गति कम करे, इससे आपकी चचलता दूर हो जायेगी तथा एकाग्रता मे सहायता मिलेगी। अब बैठकर/खडे होकर प्रथम ही नौ बार णमोकार मन्त्र पढकर पृथ्वी पर सिर लगाकर नमस्कार करना चाहिए तथा सामायिक के काल को प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि 'मै अमुक समय तक सामायिक करूँगा'। पुन खडे होकर/बैठकर नौ बार णमोकार मत्र, चत्तारि मगल पाठ तथा सामायिक दडक इत्यादि पाठ पढकर तीन आवर्त और एक शिरोनति करनी चाहिए। यह क्रिया अन्य तीनो दिशाओ मे भी करनी चाहिये। इसके पश्चात् शुद्धोपयोग अथवा शुभोपयोग रूप सामायिक करनी चाहिये। मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य भावरूप चार भावनाओ अथवा धर्मध्यान के भेद आज्ञाविचय, अपाय-विचय, विपाकविचय और सस्थानविचय का चिन्तन करना चाहिये। पदस्थ, पिडस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत रूप ध्यान करना थोडा कठिन है, परन्तु इससे एकाग्रता और ध्यान का अच्छा अभ्यास हो जाता है।

जब सामायिक समाप्त हो जाये तब अन्त मे भी प्रारम्भ की तरह प्रत्येक दिशा मे नौ बार णमोकार मत्र का जाप, तीन-तीन आवर्त तथा एक-एक शिरोनति करना चाहिये। यह सामायिक करने की स्थूल विधि है। विशेष विधि तथा दडक इत्यादि पाठ के लिये कोई सामायिक की पुस्तक देखनी चाहिये।

सामायिक काल में श्रावक के भी महाव्रत हैं—

सामायिकश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात् ।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चारित्रमोहस्य ॥
॥ ४-११४-१५० ॥

अन्वयार्थ– (**एषाम्**) इस (**सामायिकश्रितानां**) सामायिक दशा को प्राप्त श्रावको को (**चारित्रमोहस्य**) चारित्रमोह का (**उदये अपि**) उदय होने पर भी (**समस्तसावद्ययोगपरिहारात्**) समस्त पाप के योग का त्याग होने से (**महाव्रत**) महाव्रत (**भवति**) होता है ।

अर्थ—इस सामायिक दशा को प्राप्त श्रावको को चारित्रमोह का उदय होने पर भी, समस्त पाप के योग के त्याग से महाव्रत होता है ।

विशेषार्थ—सामायिक काल मे हिंसादि पाँचो पापो का तथा अन्तरग और बहिरग परिग्रह का सर्वथा त्याग होने से श्रावक भी मुनि समान होता है । दोनो के परिणामो मे कोई विशेष अन्तर नही होता । अन्तर केवल इतना है कि श्रावक वस्त्रसहित है तथा उसके प्रत्याख्यानावरणी चारित्रमोहनीय का उदय है । मुनिराज दिगम्बर हैं तथा उनके प्रत्याख्यानावरणी चारित्रमोहनीय का अभाव है । सामायिक काल मे श्रावक को भी उपचार से महाव्रती माना है ।

दूसरे शिक्षाव्रत प्रोषधोपवास का स्वरूप—

सामायिकसस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम् ।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्त्तव्योऽवश्यमुपवासः ॥
॥ ४-११५-१५१ ॥

अन्वयार्थ—(**प्रतिदिनम्**) प्रतिदिन (**आरोपितं**) अगीकार किये हुये (**सामायिकसस्कार**) सामायिक रूप सस्कार को (**स्थिरीकर्तुम्**) स्थिर करने के लिये (**द्वयोः**) दोनों (**पक्षार्द्धयोः**) पक्षो के अर्धभाग मे

अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशी के दिन (अवश्यमपि) अवश्य ही (उपवासः) उपवास (कर्त्तव्यः) करना चाहिये।

अर्थ—प्रतिदिन अगीकार किये हुये सामायिक रूप संस्कार को स्थिर करने के लिए, दोनो पक्षो के अर्धभाग मे अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशी के दिन अवश्य ही उपवास करना चाहिये।

विशेषार्थ—सामायिक करने की भावना को और भी दृढ/पुष्ट करने के लिए उपवास अवश्य करना चाहिये। यह उपवास महीने के प्रत्येक पर्व अर्थात् अष्टमी तथा चतुर्दशी के दिन किया जाता है इसलिए 'प्रोषधोपवास' कहलाता है। 'प्रोषध' का अर्थ है पर्व। कही-कही प्रोषध का अर्थ एकाशन भी लिया गया है। 'उपवास' का अर्थ है समीप रहना अथवा स्वेच्छा से व्रत विधान की भावना से चारो प्रकार के (अन्न, पान, खाद्य, लेह्य) आहार का त्याग करना। इन्द्रियो को अपने-अपने विषयो से हटाकर अपने शुद्धात्म स्वरूप मे लीन होना उपवास है। अथवा विषय-कषायो से चित्त हटाकर समस्त पापो से छूटकर धर्म (निजस्वभाव) मे वास करना प्रोषधोपवास है। उपवास के कारण से आत्मपरिणामो मे विशुद्धि उत्पन्न होती है, निर्मलता आती है जिससे सामायिक व्रत मे दृढता तथा रुचि बढती है। अत॰ यथाशक्ति प्रोषधोपवास करना चाहिये।

प्रोषधोपवास की विधि—

मुक्तसमस्तारम्भ प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे।
उपवास गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥

॥ ४-११६-१५२ ॥

अन्वयार्थ—(**मुक्तसमस्तारम्भ**) समस्त आरम्भ से मुक्त होकर (**देहादौ**) शरीर आदि मे (**ममत्वम्**) ममत्वबुद्धि का (**अपहाय**) त्याग करके (**प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे**) पर्व के पहले दिन—उपवास से पहले दिन मध्याह्न काल मे (**उपवास**) उपवास को (**गृह्णीयात्**) अगीकार करना चाहिये।

अर्थ—समस्त आरम्भ से मुक्त होकर, शरीर आदि मे ममत्व-बुद्धि का त्याग करके, पर्व के पहले दिन—उपवास से पहले दिन मध्याह्नकाल मे उपवास करना चाहिये ।

विशेषार्थ—जिस दिन उपवास करना है, उससे एक दिन पहले अर्थात् धारणा के दिन दोपहर के बारह बजे समस्त आरम्भ छोडकर परिणामो की विशुद्धतापूर्वक मन से विषय-कषायो को हटाकर उक्त चारो प्रकार के आहार का स्वेच्छा से त्याग करके, शरीर से ममत्व-भाव त्यागकर उपवास ग्रहण करना चाहिए । जैसे अष्टमी को उपवास करना है तो सप्तमी के दिन उपर्युक्त विधिपूर्वक उपवास ग्रहण करे तथा उस दिन एकाशन—एक समय ही आहार करना चाहिये । विषय-कषाय के त्याग बिना उपवास नही बनता, वह तो आहार का उल्लघन मात्र है ।

उपवास के दिन का कर्त्तव्य—

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय ।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥
॥ ४-११७-१५३ ॥

अन्वयार्थ—पश्चात् (**विविक्तवसतिं**) निर्जन—एकान्त वसतिका मे (**श्रित्वा**) जाकर (**समस्तसावद्ययोगम्**) सम्पूर्ण सावद्य योग का (**अपनीय**) त्याग करके (**सर्वेन्द्रियार्थविरतः**) सर्व इन्द्रियो के विषयो से विरक्त होकर (**कायमनोवचनगुप्तिभिः**) मनगुप्ति, वचन गुप्ति और कायगुप्ति सहित (**तिष्ठेत्**) स्थिर होवे ।

अर्थ—पश्चात् निर्जन—एकान्त वसतिका मे जाकर सम्पूर्ण सावद्ययोग का त्याग करके, सर्व इन्द्रियो के विषयो से बिरक्त होकर, मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति सहित स्थिर होवे ।

विशेषार्थ—पिछले श्लोक मे बताई गई विधि के अनुसार उपवास ग्रहण करने के पश्चात् एकान्त—निर्जन स्थान में अथवा मन्दिर-

चैत्यालय मे जाकर समस्त पापों का संकल्पपूर्वक त्याग करके तथा मन और इन्द्रियो के विषयों से विरक्त होकर अपना सारा समय मन-वचन-काय की गुप्तिपूर्वक धर्मध्यान मे लगाना चाहिये। मन मे केवल धार्मिक विषयो का चिन्तन करे, वचन से धार्मिक बातें ही बोले तथा काय से भी धर्मरूप चेष्टा करे। इस प्रकार दिन को धर्म साधना मे व्यतीत करना चाहिए।

उसके बाद क्या करना चाहिये—

धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम्।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्र॥
॥ ४-११८-१५४ ॥

अन्वयार्थ—(**वासरम्**) दिन (**धर्मध्यानासक्तः**) धर्मध्यान मे लीन होकर (**अतिवाह्य**) व्यतीत करे (**विहितसान्ध्यविधिम्**) सन्ध्याकाल की सामायिक आदि क्रिया करके (**स्वाध्यायजितनिद्र.**) स्वाध्याय से निद्रा को जीतकर (**शुचिसंस्तरे**) पवित्र बिस्तर/चटाई पर (**त्रियामां**) रात (**गमयेत्**) पूर्ण करे।

अर्थ—दिन धर्मध्यान मे लीन होकर व्यतीत करे और सन्ध्याकाल की सामायिक आदि क्रिया करके स्वाध्याय से निद्रा को जीतकर पवित्र बिस्तर/चटाई पर रात पूर्ण करे।

विशेषार्थ—पिछले श्लोक मे कही हुई विधि के अनुसार धर्मध्यान मे दिन व्यतीत करके रुचिपूर्वक सायकालीन सामायिक करनी चाहिये। तत्पश्चात् पवित्र बिस्तर पर अथवा चटाई पर बैठकर स्वाध्याय करना चाहिये तथा यथाशक्ति निद्रा को जीतना चाहिये। ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन पूर्वक समस्त रात्रि विना शयन बिताये तो अति उत्तम है, और यदि निद्रा सताये तो कम-से-कम सोना चाहिये।

तत्पश्चात् क्या करना चाहिये—

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम् ।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥

॥ ४-११९-१५५ ॥

अन्वयार्थ—(तत) उसके बाद (**प्रात**) प्रात (**प्रोत्थाय**) उठकर (**तात्कालिक**) उस समय की (**क्रियाकल्पम्**) सामायिक आदि क्रियाएँ (**कृत्वा**) करके (**प्रासुकैः**) प्रासुक—जीवरहित (**द्रव्यैः**) द्रव्यो से (**यथोक्त**) शास्त्रो मे कही विधि अनुसार (**जिनपूजां**) जिनेन्द्र देव की पूजा (**निर्वर्तयेत्**) करे।

अर्थ—उसके बाद प्रात उठकर उस समय की सामायिक आदि क्रियाएँ करके प्रासुक—जीवरहित द्रव्यो से शास्त्रो मे कही विधि अनुसार जिनेन्द्र देव की पूजा करे।

विशेषार्थ—पुन प्रातः चार बजे ब्राह्ममुहूर्त मे उठकर उत्साह-पूर्वक प्रातःकालीन सामायिक करनी चाहिये। उसके बाद शौच-स्नान इत्यादि से निबटकर भगवान् की पूजा करनी चाहिये। यद्यपि प्रोषधोपवास मे समस्त आरभ क्रिया का त्याग है, परन्तु भगवान् की पूजा इत्यादि के लिये स्नान करना तथा पूजन सामग्री तैयार करना वर्जित नही है। पूजा का अर्थ है सम्मान अथवा आराधना। दिन निकलने के बाद प्रासुक द्रव्यो से शास्त्रो मे कही गई विधि अनुसार जिनेन्द्र भगवान् की भक्तिभाव से पूजा करनी चाहिये। भगवान् की पूजा मे अनेक प्रकार के सचित्त पदार्थ अथवा जिनमे अनन्तकाय जीवो का घात हो—ऐसी वस्तुये नही चढानी चाहिये।

उसके पश्चात् और क्या करना चाहिये—

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवस द्वितीयरात्रिं च ।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य ॥

॥ ४-१२०-१५६ ॥

अन्वयार्थ—(**ततः**) उसके बाद (**उक्तेन**) पूर्वकथित (**विधिना**) विधि के अनुसार (**दिवस**) उपवास का दिन (**च**) और (**द्वितीय-रात्रिं**) दूसरी रात को (**नीत्वा**) व्यतीत करके (**च**) और (**तृतीय-दिवसस्य**) तीसरे दिन का (**अर्धं**) आधा भाग भी (**प्रयत्नात्**) अत्यन्त यत्नपूर्वक (**अतिवाहयेत्**) व्यतीत करे।

अर्थ—उसके बाद पूर्वकथित विधि के अनुसार उपवास का दिन और दूसरी रात को व्यतीत करके, और तीसरे दिन का आधा भाग भी अत्यन्त यत्नपूर्वक व्यतीत करे।

विशेषार्थ—तत्पश्चात् श्लोक सख्या १५३-५४ मे कथित विधि के अनुसार उपवास का दिन तथा दूसरी रात्रि भी स्वाध्याय तथा धर्मध्यान मे व्यतीत करे। तीसरा आधा दिन भी (बारह बजे तक) प्रात कालीन सामायिक, भगवान् की पूजा तथा स्वाध्याय मे व्यतीत करे। इस प्रकार सोलह पहर (४८ घटे) धर्मध्यान पूर्वक व्यतीत करके पश्चात् आहार ग्रहण करना चाहिए।

उपवास का फल—

इति य षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्य ।
तस्य तदानीं नियत पूर्णमहिंसाव्रत भवति ॥
॥ ४-१२१-१५७ ॥

अन्वयार्थ—(**य**) जो जीव (**इति**) इस प्रकार (**परिमुक्तसकल-सावद्य**) समस्त पाप क्रियाओ से मुक्त होकर (**षोडशयामान्**) सोलह पहर (**गमयति**) बिताता है (**तस्य**) उसके (**तदानीं**) उस समय (**नियत**) नियम से (**पूर्णम्**) सम्पूर्ण (**अहिंसाव्रत**) अहिंसाव्रत (**भवति**) होता है।

अर्थ—जो जीव इस प्रकार समस्त पाप क्रियाओ से मुक्त होकर सोलह पहर बिताता है, उसके उस समय नियम से सम्पूर्ण अहिंसा-व्रत होता है।

विशेषार्थ—जो भव्यजीव पूर्वोक्त उपवास की विधि अनुसार समस्त आरम्भ, परिग्रह तथा पापों का त्याग करके सोलह पहर श्रद्धा भक्तिपूर्वक धर्मध्यान मे व्यतीत करता है, उसको उतने काल तक पूर्ण अहिंसाव्रत का नियम से पालन होता है। उत्कृष्ट उपवास सोलह पहर (४८ घटे), मध्यम बारह पहर (३६ घटे) तथा जघन्य आठ पहर (२४ घटे) का होता है। अपनी शक्ति अनुसार उपवास करना चाहिए।

उपवास मे अहिसा की पुष्टि—

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत् किलामीषाम्।
भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसाया ॥
॥ ४-१२२-१५८ ॥

अन्वयार्थ—(**किल**) निश्चय ही (**अमीषाम्**) इस देशव्रती श्रावक को (**भोगोपभोगहेतोः**) भोग-उपभोग के कारण (**स्थावरहिंसा**) स्थावर जीवो की हिंसा (**भवेत्**) होती है, परन्तु (**भोगोपभोग**) भोग-उपभोग के (**विरहात्**) त्याग से (**हिंसाया**) हिंसा (**लेश अपि**) बिलकुल भी (**न भवति**) नही होती।

अर्थ—निश्चय ही इस देशव्रती श्रावक को भोग-उपभोग के कारण स्थावर जीवो की हिंसा होती है, परन्तु भोग-उपभोग के त्याग से हिंसा बिलकुल भी नही होती।

विशेषार्थ—देशव्रती श्रावक/गृहस्थ त्रस जीवो की हिसा का तो पूर्ण रूप से त्यागी होता है, परन्तु पंचेन्द्रियो के भोगोपभोग के कारण स्थावर जीवो की हिसा होती है। उपवास के समय समस्त आरम्भ, परिग्रह, पाँचो पापो का तथा भोगोपभोग का सम्पूर्ण त्याग होने से त्रस तथा स्थावर दोनो प्रकार के जीवो की लेशमात्र भी हिंसा नहीं होती, अत अहिसाव्रत का पालन हो जाता है।

उपवास मे अहिंसा महाव्रत की तरह शेष चार महाव्रत भी पलते हैं—

वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहित स्तेयम् ।
नाब्रह्म मैथुनमुच सङ्गो नाङ्गेऽप्यमूर्छस्य ॥
॥ ४-१२३-१५९ ॥

अन्वयार्थ—उपवासधारी पुरुष के (**वाग्गुप्ते**) वचनगुप्ति होने से (**अनृत**) असत्य वचन (**न अस्ति**) नही होता है, (**समस्तादान-विरहितः**) समस्त बिना दी हुई वस्तुओ के ग्रहण के त्याग से (**स्तेयम्**) चोरी (**न**) नही है (**मैथुनमुचः**) मैथुन त्यागी को (**अब्रह्म**) अब्रह्मचर्य (**न**) नही है और (**अङ्गे**) शरीर मे (**अमूर्छस्य**) ममत्व भाव न होने से (**सङ्गः**) परिग्रह (**अपि न**) भी नही है।

अर्थ—उपवासधारी पुरुष के वचनगुप्ति होने से असत्य वचन नही होता है, समस्त बिना दी हुई वस्तुओ के ग्रहण के त्याग से चोरी नही है, मैथुनत्यागी को अब्रह्मचर्य नही है और शरीर मे ममत्वभाव न होने से परिग्रह भी नही है।

विशेषार्थ—उपवास के दिन वचनगुप्ति के कारण झूठ बोलने का त्याग होने से सत्यमहाव्रत का पालन, बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण का त्याग होने से अचौर्यमहाव्रत का पालन, सम्पूर्ण मैथुन के त्याग होने से ब्रह्मचर्यमहाव्रत का पालन तथा शरीर मे ममत्वभाव न होने से परिग्रहत्याग महाव्रत का पालन भी होता है। इस प्रकार उपवास के दिन चारो महाव्रतो का भी पालन हो जाता है।

श्रावक को उपर्युक्त महाव्रत उपचार/व्यवहार से है—

इत्थमशेषितहिंस प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात् ।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ॥
॥ ४-१२४-१६० ॥

अन्वयार्थ—(**इत्थम्**) इस प्रकार (**अशेषितहिंसा**) सम्पूर्ण हिंसा रहित (**सः**) वह प्रोषधोपवासी पुरुष (**उपचारात्**) उपचार से—व्यवहारनय से (**महाव्रतित्वम्**) महाव्रतपने को (**प्रयाति**) पाता है (**तु**) परन्तु (**चरित्रमोहे**) चारित्रमोह के (**उदयति**) उदय होने के कारण (**संयमस्थानम्**) महाव्रत संयमस्थान (**लभते न**) प्राप्त नहीं करता।

अर्थ—इस प्रकार सम्पूर्ण हिंसा रहित, वह प्रोषधोपवासी पुरुष उपचार से—व्यवहारनय से महाव्रतपने को पाता है, परन्तु चारित्र-मोह के उदय होने के कारण महाव्रत संयमस्थान को प्राप्त नहीं करता।

विशेषार्थ—पिछले दो श्लोको मे उपवास के दिन सम्पूर्ण पापो तथा परिग्रहादि का त्याग होने से श्रावक/गृहस्थ को महाव्रती कहा गया है। वास्तव मे वह महाव्रती नही है। वह उपचार—व्यवहार से महाव्रती कहलाता है। प्रत्याख्यानावरणी क्रोध-मान-माया-लोभ कषायो का अभाव होने से महाव्रत रूप संयमस्थान दिगम्बर मुनिराज को ही होता है। गृहस्थ के इन कषायो का सद्भाव होने से वह एक-देशव्रती है, महाव्रती नही है। इसलिये गृहस्थ/श्रावक को महाव्रती कहना औपचारिक कथन है। श्रावको/गृहस्थो को पाँचो पापो के त्याग तथा इन्द्रिय विषय दमन के हेतु प्रोषधोपवास अवश्य करना चाहिए। मान-बड़ाई के वशीभूत होकर किया गया उपवास निष्प्रयोजन है।

तीसरे भोगोपभोग शिक्षाव्रत का स्वरूप—

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ॥
॥ ४-१२५-१६१ ॥

अन्वयार्थ—(**विरताविरतस्य**) देशव्रती श्रावक को (**भोगोप-भोगमूला**) भोग और उपभोग के कारण होने वाली (**हिंसा**) हिंसा

होती है (**अन्यतः न**) अन्य प्रकार से नही, इसलिए (**तौ**) वे दोनो— भोग और उपभोग (**अपि**) भी (**वस्तुतत्त्व**) वस्तु स्वरूप को और (**स्वशक्तिमपि**) अपनी शक्ति को भी (**अधिगम्य**) जानकर (**त्याज्यौ**) त्यागने योग्य हैं।

अर्थ - देशव्रती श्रावक को भोग और उपभोग के कारण से होने वाली हिंसा होती है, अन्य प्रकार से नही, इसलिये वे दोनो—भोग और उपभोग भी, वस्तुस्वरूप को और अपनी शक्ति को भी जानकर अर्थात् शक्ति अनुसार, त्यागने योग्य हैं।

विशेषार्थ—जो वस्तु एक बार ही भोगी जाये उसे 'भोग' कहते हैं, जैसे—भोजन, पान, गन्ध, माला इत्यादि। जो वस्तु बार-बार भोगने मे आती है उसे 'उपभोग' कहते हैं, जैसे—जेवर, वस्त्र, वाहन, आसन इत्यादि। श्रावक/गृहस्थ को इन्द्रिय-भोगोपभोग पदार्थ सम्बन्धी स्थावर हिंसा अवश्य होती है। अन्य प्रकार कोई हिंसा नही होती। जब किसी को ऐसा अनुभव/श्रद्धान हो जाता है कि भोगो की तृष्णा दु:ख और आकुलता उत्पन्न करने वाली है, तब वह भोगो के त्याग की ओर बढता है। इसलिए वस्तुस्वरूप को भली प्रकार जानकर अर्थात् वस्तु के भोग मे कितना दोष है, वह भक्ष्य है या नही—इस प्रकार विवेकपूर्ण विचार करके अपनी शक्ति अनुसार भोगो का त्याग करना चाहिए। जो भोगने योग्य पदार्थ हैं, उनका भी परिमाण (सख्या निर्धारित) करके शेष को त्याग देना चाहिए।

हिंसा के कारणो का भी त्याग करना चाहिये—

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।
करणीयमशेषाणा परिहरणमनन्तकायानाम्॥

॥ ४-१२६-१६२ ॥

अन्वयार्थ—क्योंकि (**एकम्**) एक साधारण शरीर को—कन्दमूल आदि को (**अपि**) भी (**प्रजिघांसु**) घात करने की इच्छा रखने वाला पुरुष (**अनन्तानि**) अनन्त जीवो को (**निहन्ति**) मारता है

(**अतः**) इसलिये (**ततः**) उन (**अशेषाणां**) सभी (**अनन्तकायानाम्**) अनन्त काय वाले पदार्थों का (**परिहरणं**) पूर्ण त्याग (**अवश्यम्**) अवश्य (**करणीयम्**) करना चाहिए।

अर्थ—क्योंकि एक साधारण शरीर को—कन्दमूल आदि को भी घात करने की इच्छा रखने वाला पुरुष अनन्तजीवो को मारता है, इसलिए उन सभी अनन्तकाय वाले पदार्थों का पूर्ण त्याग अवश्य करना चाहिये।

विशेषार्थ—हिसा के कारणो का त्याग करने से ही हिंसा का त्याग संभव है। भोगोपभोग का परिमाण करने वाले व्यक्ति को कन्दमूल इत्यादि साधारण अनन्तकाय वनस्पति का सर्वथा त्याग करना चाहिए, क्योंकि उनके खाने से उनके (कन्दमूल) आश्रय से रहने वाले अनन्त स्थावर जीवो का घात होता है।

पांच स्थावरो मे से पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, और अग्निकाय जीवो मे तो निगोदजीव नही रहते, केवल एक वनस्पतिकाय मे हो रहते हैं। वनस्पति 'साधारण' और 'प्रत्येक' के भेद से दो प्रकार की है। जिस शरीर का एक ही स्वामी हो उसे प्रत्येक वनस्पति तथा जिसके शरीर के अनन्त स्वामी हो उसे साधारण वनस्पति कहते हैं। प्रत्येक वनस्पति के भो दो भेद है—एक 'सप्रतिष्ठित' तथा दूसरा 'अप्रतिष्ठित'। जो निगोद जीव सहित है अर्थात् जिसका मूल स्वामी तो एक है परन्तु उसके आश्रय से अनन्त निगोद जीव रहते हो, उन्हे सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं तथा जिसका मूल स्वामी एक हो और उसके आश्रय से अनन्त निगोदजीव न रहते हो उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं।

'साधारण वनस्पति'—जिसके तोडने पर समान भग हो, जिसके पत्तो मे रेखा और नसाजाल न निकले हो, जिसकी मूल, कन्द, छाल, पत्ते, छोटी डाली, फल तथा बीज मे तोडते समय समान भग हो जायें तब तक वह साधारण वनस्पति है। जब उनमे समान भग न हो तब वही वनस्पति प्रत्येक वनस्पति हो जाती है। साधारण

वनस्पति के काटने-तोडने से, उसके स्वामी अनन्त जीवों का घात होता है। सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति के शरीर का स्वामी तो एक ही है, परन्तु उसके आश्रय मे अनन्त जीव रहते हैं, वे उसके स्वामी नहीं हैं, इसलिये उस एक शरीर के मरने से उन जीवो का घात नहीं होता। इसलिये गृहस्थ/श्रावक को साधारण वनस्पति आलू, अदरख इत्यादि का तो सर्वथा त्याग कर देना चाहिये तथा यथाशक्ति प्रत्येक वनस्पति का भी त्याग करना चाहिए। जब हम आलू, अदरक, गाजर, मूली, जमीकन्द इत्यादि खाते है तब जिह्वा के थोडे से स्वाद के लिए अनन्तानन्त जीवो का घात करते हैं। अत इनकी हिंसा से बचने के लिये ऐसी तथा यथा-शक्ति अन्य वनस्पति का भी शीघ्र त्याग कर देना चाहिये।

नवनीत (मक्खन) त्याग करने योग्य है—

नवनीत च त्याज्य योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्।
यद्वाऽपि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित्॥
॥ ४-१२७-१६३ ॥

अन्वयार्थ—(**च**) तथा (**प्रभूतजीवानाम्**) बहुत जीवो के (**योनिस्थानं**) उत्पन्न होने का स्थान (**नवनीतं**) मक्खन (**त्याज्य**) त्याग करने योग्य है (**वा**) अथवा (**पिण्डशुद्धौ**) आहार की शुद्धि मे (**यत् किञ्चित्**) जो कुछ भी (**विरुद्धम्**) विरुद्ध (**अभिधीयते**) कहा गया है वह (**अपि**) भी त्यागने योग्य है।

अर्थ—तथा बहुत जीवो के उत्पन्न होने का स्थान होने से मक्खन त्याग करने योग्य है अथवा आहार की शुद्धि मे जो कुछ भी विरुद्ध कहा गया है, वह भी त्यागने योग्य है।

विशेषार्थ—नवनीत (मक्खन) मे अडतालीस मिनट के पश्चात् त्रस जीवो की उत्पत्ति होने लग जाती है। मक्खन खाने से उन जीवो का घात होता है, अतः इसका भी त्याग करना चाहिए। ताजे निकाले

हुये मक्खन का अड़तालीस मिनट के अन्दर-अन्दर घी बना लेना चाहिये।

इसके अतिरिक्त आचारशास्त्र में कथित अन्य अभक्ष्य पदार्थों का भी त्याग करना चाहिये। चमड़े मे रखा हुआ घी, तेल, हींग, पानी इत्यादि ग्रहण नहीं करना चाहिये। अड़तालीस मिनट से ज्यादा रखा हुआ कच्चा दूध, एक दिन से ज्यादा की दही, बाजार का आटा, अनजाना फल, सड़ा हुआ या घुना हुआ अनाज तथा बहुत बीज वाली सब्जी-फल नही खाने चाहिये। पानी को मोटे कपड़े के छन्ने मे छानकर पीना तथा अन्य कामों मे प्रयोग करना चाहिये। कच्चे पानी की अड़तालीस मिनट तथा उबाले हुये पानी की मर्यादा चौबीस घण्टे है। शीतकाल मे आटे की मर्यादा सात दिन, गरमी मे पाँच दिन तथा वर्षाकाल मे तीन दिन की है। इस प्रकार व्रती श्रावक को अपनी भोग-उपभोग की वस्तुओं का सोच-समझकर चुनाव करना चाहिये।

खाने योग्य पदार्थों को भी शक्ति के अनुसार त्यागना चाहिये—

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्या ।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ॥
॥ ४-१२८-१६४ ॥

अन्वयार्थ—(**धीमता**) बुद्धिमान् पुरुष (**निजशक्तिम्**) अपनी शक्ति (**अपेक्ष्य**) देखकर (**अविरुद्धाः**) अविरुद्ध (**भोगाः**) भोग (**अपि**) भी (**त्याज्याः**) त्याग दे, यदि (**अत्याज्येषु**) उचित भोग-उपभोग का त्याग न हो सके तो उसमे (**अपि**) भी (**एकदिवानिशोपभोग्यतया**) एक दिवस-रात की उपभोग्यता से (**सीमा**) मर्यादा (**कार्या**) करनी चाहिए।

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुष अपनी शक्ति देखकर अविरुद्ध (दोष रहित) भोग भी त्याग दे। यदि उचित भोग-उपभोग का त्याग न हो सके तो उसमे भी एक दिवस-रात की उपभोग्यता से मर्यादा करनी चाहिये।

विशेषार्थ—श्रावक को अपने पद के अनुसार समस्त अभक्ष्य पदार्थों का त्याग तो करना ही चाहिये। इसके अलावा जो शुद्ध भक्ष्य पदार्थ हैं, उनका भी शक्ति के अनुसार, इन्द्रिय-विषयो की लालसा/राग को कृश करने के लिये त्याग करना चाहिये। यदि सर्वथा—जीवन पर्यन्त त्याग करने मे असमर्थ हो तो निश्चित काल का 'नियम' करके उनका भी त्याग अवश्य करना चाहिये। समय की मर्यादा रखकर जो त्याग होता है उसे 'नियम' कहते है। अर्थात् ऐसा सकल्प करना चाहिये कि "अमुक वस्तु का अथवा विषय का मैं एक दिन, एक सप्ताह, एक पक्ष अथवा एक मास के लिये त्याग करता हूँ।" इस प्रकार भोगोपभोग्य पदार्थों का नियम रूप त्याग किया जाता है। बुद्धिमान् पुरुष भोगो के प्रति रुचि को आहिस्ते-आहिस्ते कम करके एकदम समाप्त कर देते हैं।

पूर्व मर्यादा मे भी मर्यादा कम करनी चाहिये—

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिम्।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्त्तव्या॥
॥ ४-१२९-१६५ ॥

अन्वयार्थ—(**पूर्वकृतायां**) पहले की हुई (**सीमनि**) मर्यादा मे (**पुनः**) फिर से (**अपि**) भी (**तात्कालिकीं**) उस वर्तमान समय की (**निजां**) अपनी (**शक्तिम्**) शक्ति को (**समीक्ष्य**) विचार कर (**प्रतिदिवसं**) प्रत्येक दिन (**अन्तरसीमा**) मर्यादा मे भी थोडी मर्यादा (**कर्त्तव्या भवति**) करनी चाहिये।

अर्थ—पहले की हुई मर्यादा मे फिर भी उस वर्तमान समय की अपनी शक्ति को विचार कर, प्रत्येक दिन मर्यादा मे भी थोडी मर्यादा करनी चाहिये।

विशेषार्थ—पिछले श्लोक मे बताई गई विधि के अनुसार जो एक दिन, एक सप्ताह इत्यादि की मर्यादा की गई थी, उस मर्यादा को अपनी वर्तमान शक्ति के अनुसार और भी संकुचित करके उसमे

भी भोगोपभोग की वस्तुओं/विषयो को घटाना चाहिये। अर्थात् पूर्व मर्यादा मे भी भोग्य वस्तुओ—पान, फूल, सेंट, वस्त्र, अलकार, संगीतें, कामक्रीडा इत्यादि का प्रतिदिन त्याग करना चाहिये। इस प्रकार अपने भोगोपभोग की वस्तुओ तथा मर्यादा को जहाँ तक हो सके कम करना चाहिये। यही कल्याण और शान्ति का मार्ग है।

भोगो के त्याग से विशेष अहिंसाव्रत होता है—

इति य परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात्॥
॥ ४-१३०-१६६ ॥

अन्वयार्थ—(**य**) जो गृहस्थ (**इति**) इस प्रकार (**परिमितभोगैः**) मर्यादित भोगो से (**सन्तुष्टः**) सन्तुष्ट होकर (**बहुतरान्**) बहुत से (**भोगान्**) भोगो को (**त्यजति**) त्याग देता है (**तस्य**) उसके (**बहुतरहिंसाविरहात्**) बहुत हिंसा के त्याग से (**विशिष्टा अहिंसा स्यात्**) विशेष अहिंसाव्रत होता है।

अर्थ—जो गृहस्थ इस प्रकार मर्यादित भोगों से सन्तुष्ट होकर बहुत से भोगो को त्याग देता है, उसके बहुत हिंसा के त्याग से विशेष अहिंसाव्रत होता है।

विशेषार्थ—जो गृहस्थ/श्रावक पूर्वोक्त प्रकार से भोगो से सन्तुष्ट (तृप्त) होकर, उनका ज्यादा से ज्यादा त्याग करता है, वह अहिंसाव्रत का विशेष रूप से पालन करता है। भोगो के प्रति आसक्ति/रागभाव का अभाव होने से भावहिंसा नहीं होती तथा भोगों के निमित्त से होने वाली जीवों के घात रूप हिंसा न होने से द्रव्य हिंसा भी नही होती। इस तरह भोगो के त्याग से अहिंसाव्रत पुष्ट होता है।

चौथे वैयावृत्य (अतिथिसंविभाग) शिक्षाव्रत का स्वरूप—

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय ।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्त्तव्योऽवश्यमतिथये भागः ॥

॥ ४-१३१-१६७ ॥

अन्वयार्थ—(**दातृगुणवता**) दाता के गुणो से युक्त गृहस्थ को (**जातरूपाय अतिथये**) दिगम्बर मुनि के लिये (**स्वपरानुग्रहहेतोः**) अपने और पर के उपकार के लिये (**द्रव्यविशेषस्य**) विशेष द्रव्य का—देने योग्य वस्तु का (**भाग**) भाग (**विधिना**) विधिपूर्वक (**अवश्यम्**) अवश्य ही (**कर्त्तव्यः**) करना चाहिये ।

अर्थ—दातार के गुणो से युक्त गृहस्थ को दिगम्बर मुनि के लिये अपने और पर के उपकार के लिये, विशेष द्रव्य—देने योग्य वस्तु का भाग विधिपूर्वक अवश्य ही करना चाहिये ।

विशेषार्थ—आपत्ति अथवा दुःख से छुटकारा पाने के लिये जो उपाय किया जाये उसे 'वैयावृत्य' कहते हैं । उसमे चारो दान तथा सेवा-सुश्रूषा इत्यादि सबका ग्रहण होता है । अपने तथा दूसरे के उपकार के लिये अपनी वस्तु का त्याग करना 'दान' है । दातार को उत्तमपात्र को दान देने से विशेष पुण्य का लाभ होता है तथा पात्र की सयमादि की तथा रत्नत्रय की पुष्टि होती है । अत दातार के सप्त गुणो से युक्त श्रावक को प्रतिदिन अपने तथा पर के उपकार हेतु दिगम्बर मुनि को विधि एव नवधा भक्ति पूर्वक, देने योग्य वस्तुओ का दान अवश्य देना चाहिये । श्रावक को अपने न्यायपूर्वक उपार्जित धन मे से शक्ति के अनुसार दान के निमित्त भाग अवश्य निकालना चाहिये । द्वार पर आये हुये अतिथि को आहारादिक का दान करके पश्चात् स्वय भोजन करे—ऐसा सद्गृहस्थो का नियम है, उसे 'अतिथिसविभाग' कहते हैं ।

नवधा भक्ति के नाम—

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥
॥ ४-१३२-१६८ ॥

अन्वयार्थ—(**संग्रहम्**) पडगाहन (**उच्चस्थानं**) ऊँचा आसन देना (**पादोदकम्**) चरण धोना, (**अर्चन**) पूजा करना (**च**) और (**प्रणामं**) नमस्कार करना (**वाक्कायमन शुद्धिः**) मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि पूर्वक (**च**) और (**एषणशुद्धिः**) आहार शुद्धि—इस प्रकार आचार्यों ने (**विधिम्**) नवधा भक्ति रूप विधि (**आहुः**) कही है।

अर्थ—पडगाहन, ऊँचा आसन देना, चरण धोना, पूजा करना और नमस्कार करना, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धिपूर्वक और आहार शुद्धि—इस प्रकार आचार्यों ने नवधाभक्ति रूप विधि कही है।

विशेषार्थ—इस श्लोक मे आहार दान की विधि का वर्णन है। उत्तमपात्र अर्थात् दिगम्बर मुनिराज को नवधाभक्तिपूर्वक आहार देना चाहिये। नौ प्रकार की भक्ति का विवरण—(१) 'सग्रहम्'—पडगाहन करना अर्थात् मुनिराज को बडे आदरपूर्वक आहार के लिये बुलाना तथा तीन प्रदक्षिणा देकर घर मे प्रवेश कराना, (२) 'उच्च-स्थान'—घर मे लेजाकर उन्हे ऊँचे आसन पर बैठाना, (३) 'पादोद-कम्'—प्रासुक जल से चरण धोना, (४) 'अर्चन'—अर्घ चढ़ाना अथवा अष्टद्रव्य से पूजा करना, (५) 'प्रणाम'—नम्रीभूत होकर नमस्कार करना, (६) 'मनशुद्धि'—आहार देने मे विनय सेवायुक्त परिणाम रखना, (७) 'वाक्शुद्धि'—विनय-भक्तियुक्त वचन बोलना, (८) 'कायशुद्धि'—शरीर को स्नान आदि द्वारा स्वच्छ करना तथा धुले हुये शुद्ध वस्त्र पहनना तथा (९) 'एषणशुद्धि'—आहार शुद्धि—आहार की सभी वस्तुये निर्दोष—शुद्ध रखना। आहार प्रारभ कराने से पहले 'मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आहारशुद्धि' बोलना

चाहिये। यह नवधाभक्ति केवल दिगम्बर मुनिराज के लिये ही है। अन्य पात्रो के लिये उनके पद के अनुसार विधान अपनाना चाहिये।

दातार के सात गुण—

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटताऽनसूयत्वम्।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः॥
॥ ४-१३३-१६९ ॥

अन्वयार्थ—(**ऐहिकफलानपेक्षा**) इस लोक सम्बन्धी फल की इच्छा न करना, (**क्षान्तिः**) क्षमाभाव धारण करना, (**निष्कपटता**) कपट रहित होना (**अनसूयत्वम्**) ईर्ष्या रहित होना (**अविषादित्वमुदित्वे**) खेद न करना, आनन्दविभोर होना और (**निरहङ्कारित्वम्**) अहकार न करना (**इति**) इस प्रकार यह सात (**हि**) निश्चय ही (**दातृगुणा**) दातार के गुण है।

अर्थ—इस लोक सम्बन्धी फल की इच्छा न करना, क्षमाभाव धारण करना, कपटरहित होना, ईर्ष्यारहित होना, खेद न करना, आनन्द विभोर होना और अहकार न करना – इस प्रकार यह सात निश्चय ही दातार के गुण है।

विशेषार्थ—यहाँ दातार अथवा दान देने वाले के सात गुणो का वर्णन है। ये गुण प्रत्येक दातार मे अवश्य होने चाहिये अन्यथा दिया हुआ दान विशेष फल प्रदान नही करता। दातार के सात गुण इस प्रकार है—(१) 'ऐहिकफलानपेक्षा' –दान देकर इस लोक सम्बन्धी यशःकीर्ति अथवा धन-वैभव आदि सामग्री की इच्छा न करना, (२) 'क्षान्ति'—दान देते समय शान्त परिणाम तथा क्षमाभाव धारण करना, (३) 'निष्कपटता' - कपट/मायाचार न करना—अन्तरग तथा बाह्य मे शुभ परिणाम रखना, (४) 'अनसूयत्वम्'—दूसरे दातार के प्रति ईर्ष्या अथवा दुर्भाव न रखना, (५) 'अविषादित्वम्'—विषाद न करना—खेद-खिन्न न होना। आहार देने के पश्चात् किसी भी कारण से खिन्नता उत्पन्न नही होना, (६) 'मुदित्व'—दान देने के

पश्चात् आनन्द विभोर होना तथा (७) 'निरहङ्कारित्वम्'—किसी भी प्रकार का अहकार न करना कि 'हम बड़े दातार हैं' इत्यादि। इस तरह सात गुणो से युक्त, नवधाभक्ति पूर्वक जो दातार दान देता है वह विशेष पुण्य का फल पाता है।

किन वस्तुओ का दान करना चाहिये—

रागद्वेषासंयममदबु:खभयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्य तदेव देयं सुतप स्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥
॥ ४-१३४-१७० ॥

अन्वयार्थ—(यत्) जो (रागद्वेषासयममदबु खभयादिक) राग, द्वष, असयम, मद, दु ख, भय आदि उत्पन्न (न कुरुते) नही करता हो और (सुतपः) उत्तम तप तथा (स्वाध्यायवृद्धिकरम्) स्वाध्याय की वृद्धि करने वाला हो (तत् एव) वही (द्रव्यं) द्रव्य (देयं) देना चाहिये।

अर्थ—जो राग, द्वेष, असयम, मद, दु:ख, भय आदि उत्पन्न न करता हो और उत्तम तप तथा स्वाध्याय की वृद्धि करने वाला है, वही द्रव्य देना चाहिये।

विशेषार्थ—इस श्लोक मे दान देने योग्य द्रव्य का वर्णन है। आहारदान मे मुनिराज को दी गई वस्तु कैसी होनी चाहिये ?—जिसके सेवन से सयमी पुरुष मे राग, द्वेष, असयम, मद, आकुलता, भय, आलस्य तथा कामादिक बिकार उत्पन्न हो—ऐसी वस्तुये आहार मे नही देनी चाहिये। उनके तप तथा रत्नत्रय की वृद्धि के लिये और शास्त्र-स्वाध्याय तथा ध्यान आदि की रुचि बढाने मे सहायक सात्विक वस्तुओ का आहार देना चाहिये। विशेष सावधानीपूर्वक साधुओ के आहार के लिये शुद्ध—प्रासुक वस्तुओ का चुनाव करना आवश्यक है।

दान के चार भेद हैं—(१) 'आहारदान'—क्षुधा (भूख) निवारण के लिये तथा शरीर की स्थिति बनाये रखने के लिए त्यागी-व्रती को

सात्त्विक तथा प्रासुक भोजन देना आहारदान है। (२) 'औषधदान'-- रोग आदि की पीडा/व्याधि दूर करने के लिये दवाई देना औषधदान है। (३) 'ज्ञानदान' अथवा 'उपकरण दान'--साधुओ को स्वाध्याय के लिये ज्ञानवर्द्धक शास्त्र, जीव-रक्षा हेतु पीछी तथा शुद्धि के लिये कमण्डलु आदि देना ज्ञानदान अथवा उपकरण दान है। (४) 'अभय-दान' अथवा 'वसतिका दान'—साधु के रहने के लिये यथायोग्य सुरक्षित स्थान झोपडी, वसतिका अथवा धर्मशाला इत्यादि बनवाना अभय-दान अथवा वसतिका दान है। इस प्रकार आत्मकल्याण के निमित्त त्यागियो को उपर्युक्त दान देना ही वास्तविक दान है।

पात्रो के भेद -

पात्र त्रिभेदमुक्त सयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरतसम्यग्दृष्टि: विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥
॥ ४-१३५-१७१ ॥

अन्वयार्थ—(**मोक्षकारणगुणानाम्**) मोक्ष के कारणभूत—सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र गुणो की एकतारूप (**सयोग**) सयोगवाला (**पात्र**) पात्र (**अविरतसम्यग्दृष्टि:**) अविरत सम्यग्दृष्टि (**च**) तथा (**विरताविरत**) देशव्रती (**च**) और (**सकलविरत:**) महाव्रती (**त्रिभेदम्**) तीन भेदरूप (**उक्त**) कहा गया है।

अर्थ—मोक्ष के कारणभूत अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक्चारित्र गुणो की एकतारूप सयोगवाला पात्र अविरतसम्यग्दृष्टि तथा देशव्रती और महाव्रती तीन भेदरूप कहा गया है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एक-रूपता ही मोक्षमार्ग है। जिस जीव मे इनका एकरूपता रूप सयोग पाया जावे अर्थात् जो सम्यदृष्टि जीव है, वह 'पात्र' कहलाता है। उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से पात्र तीन प्रकार के है। सम्यग्दृष्टि महाव्रती मुनिराज 'उत्तमपात्र' हैं, सम्यग्दृष्टि अणुव्रती

गृहस्थ/श्रावक 'मध्यमपात्र' है तथा व्रतरहित सम्यग्दृष्टि श्रावक 'जघन्यपात्र' है। मिथ्यादर्शन सहित जो जैन आचरण पालता है वह 'कुपात्र' है। मिथ्यादर्शन सहित जो मिथ्या आचरण का पालन करता है वह 'अपात्र' है।

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि दान की पात्रता क्या व्यवहार सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से है अथवा निश्चय सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से है? समाधान—यदि निश्चय सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से माना जाये तो उत्तम पात्र आदि की पहचान/परीक्षा साधारण व्यक्ति की बुद्धि से बाहर की बात है, इसलिये व्यवहार सम्यग्दर्शन से पात्रो की पहचान / परीक्षा करके उनको यथायोग्य आदर-सत्कार पूर्वक आहारदान देना चाहिये। इस प्रकार द्रव्यलिंगी मुनि भी उत्तमपात्र की गणना मे आता है, अत. उसे भी आहार देना चाहिये।

इसके अतिरिक्त दु खी जीवो को करुणाभाव से भोजन, औषध, वस्त्र इत्यादि का दान भी देना चाहिये। जो जीव अपनी आजीविका कमाने मे समर्थ हैं, व्यसनी, व्यभिचारी हैं, उन्हे दान नही देना चाहिये, क्योंकि वे अपात्र हैं।

सम्यग्दृष्टि दातार सुपात्रो को दान देने से स्वर्गों मे उत्पन्न होता है। मिथ्यादृष्टि दातार उत्तमपात्र को दान देने से उत्तमभोग भूमि मे, मध्यम पात्र को दान देने से मध्यम भोग भूमि मे तथा जघन्य पात्र को दान देने से जघन्य भोग भूमि मे उत्पन्न होता है। कुपात्र को दान देने का फल कुभोग भूमि है तथा अपात्र को दान देने से नरकादि गति मिलती हैं।

दान देने से हिसा का त्याग होता है—

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥
॥ ४-१३६-१७२ ॥

अन्वयार्थ—(**यतः**) क्योंकि (**अत्र दाने**) यहाँ दान मे (**हिंसायाः**) हिंसा की (**पर्याय**) पर्याय (**लोभः**) लोभ कषाय का (**निरस्यते**) त्याग किया जाता है (**तस्मात्**) इसलिए (**अतिथिवितरण**) अतिथि-दान में (**हिंसाव्युपरमणम्**) हिंसा का त्याग (**एव इष्टम्**) ही इष्ट है।

अर्थ—क्योंकि यहाँ दान मे हिंसा की पर्याय लोभ कषाय का त्याग किया जाता है, इसलिये अतिथि दान मे हिंसा का त्याग ही इष्ट है।

विशेषार्थ—जो जीव दान देता है वह अहिंसा का पालन करता है। लोभकषाय का त्याग किये बिना किसी भी प्रकार का दान देना सभव नही है। अन्तरग मे लोभ कषाय का त्याग होने पर ही बाह्य वस्तु से ममत्व छूटता है और तभी अपनी वस्तु स्वपर-कल्याण के लिए दी जाती है। लोभकषाय भावहिंसा की एक पर्याय है। जो भव्य जीव लोभकषाय का त्याग करके दान देता है, वह अहिंसाव्रत का पालन करता है। अत दान देने मे भी हिंसा का त्याग होता है।

जो श्रावक घर पर आए हुए साधु को आहार नही देता वह लोभ-हिंसा ग्रस्त है—

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते।
वितरति यो नातिथये स कथ न हि लोभवान् भवति॥

॥४-१३६-१७३॥

अन्वयार्थ—(**य**) जो गृहस्थ (**गृहमागताय**) घर पर आये हुए (**गुणिने**) रत्नत्रय आदि गुणो से युक्त (**मधुकरवृत्त्या**) भ्रमर समान वृत्ति से (**परान्**) दूसरो को (**अपीडयते**) पीडा न देने वाले (**अतिथये**) अतिथि—साधु को (**न वितरति**) भोजनादि दान नही देता (**स.**) वह (**लोभवान्**) लोभकषाय युक्त (**कथं**) कैसे (**न हि**) नही (**भवति**) है?

अर्थ—जो गृहस्थ घर पर आये हुए रत्नत्रय आदि से युक्त, भ्रमर समान वृत्ति से दूसरो को पीडा न देने वाले अतिथि—साधु को

भोजनादि दान नहीं देता, वह लोभकषाय युक्त कैसे नही है ? अर्थात् अवश्य लोभकषाय युक्त है ।

विशेषार्थ—जिस प्रकार भ्रमर (भौंरा) किसी भी फूल को पीड़ा पहुँचाए बिना उनकी सुगन्ध लेता है, उसी प्रकार दिगम्बर मुनिराज आदि भी गृहस्थ/श्रावक को किसी भी प्रकार की बाधा अथवा पीड़ा पहुँचाए बिना आहार ग्रहण करते हैं। वे किसी को विशेष भोजन बनाने अथवा देने की याचना नही करते । श्रावक द्वारा भक्तिभाव से पड़गाहे जाने पर जो कुछ भी शुद्ध-प्रासुक भोजन मिल जाता है, उसे ही लेकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। जो श्रावक ऐसे सन्तोषी साधुओं को दान नही देता, वह निश्चय ही हिंसा का भागीदार है । उसके अन्तरग मे तीव्र लोभकषाय का सद्भाव है, इसलिए उसको दान देने का भाव नही होता । लोभकषाय स्वय मे भावहिंसा है, अत ऐसा जीव लोभहिंसा से ग्रस्त है ।

अपने लिये बनाया हुआ भोजन मुनि को देना अहिंसा स्वरूप ही है—

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्याग ।
अरतिविषादविमुक्त· शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ॥
॥४-१३८-१७४॥

अन्वयार्थ—(**आत्मार्थं**) अपने लिये (**कृतम्**) बनाया हुआ (**भक्तम्**) भोजन (**मुनये**) मुनि के लिये (**ददाति**) देता हूँ, (**इति**) इस प्रकार (**भावितः**) भावपूर्वक (**अरतिविषादविमुक्तः**) अप्रीति और खिन्नता रहित तथा (**शिथिलितलोभः**) लोभ को निष्क्रिय करने वाले श्रावक का (**त्याग**) दान (**अहिंसा एव**) अहिंसा स्वरूप ही (**भवति**) होता है ।

अर्थ—'अपने लिये बनाया हुआ भोजन मुनि के लिये देता हूँ'—इस प्रकार भावपूर्वक, अप्रीति और खिन्नता रहित तथा लोभ को निष्क्रिय करने वाले श्रावक का दान अहिंसा स्वरूप ही होता है ।

विशेषार्थ—जो वस्तु अपने निमित्त अथवा प्रयोजन से बनाई गई हो, यदि उस वस्तु को किसी दूसरे को देना पडे तो मनुष्य को खिन्नता और लोभ उत्पन्न होता है। जो श्रावक/गृहस्थ लोभकषाय का त्याग करके तथा पश्चात्ताप, विषाद, खिन्नता आदि दोषो को दूर करके, त्याग भावपूर्वक अपने लिये बनाये हुए भोजन को मुनीश्वर को देता है, उसका यह दान अहिंसा स्वरूप ही है। आहारदान से पात्र की भूख-प्यास दूर होने से द्रव्य अहिंसा होती है, तथा दातार लोभकषाय का त्याग करता है इसलिये भाव अहिंसा भी होती है। इस प्रकार दान देने वाला पूर्ण अहिंसा व्रत का पालन करता है।

॥ चौथा सम्यक्‌चारित्र अधिकार समाप्त हुआ ॥

(५) सल्लेखनाधर्म अधिकार ।

अन्त मे सल्लेखना ग्रहण करनी चाहिये—

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया सम नेतुम् ।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ।।

।। ५-१-१७५ ।।

अन्वयार्थ—(**इयम्**) यह (**एका**) एक (**पश्चिम सल्लेखना एव**) मरण के अन्त समय मे होने वाली सल्लेखना ही (**मे**) मेरे (**धर्मस्वं**) धर्मरूपी धन को (**मया**) मेरे (**समं**) साथ (**नेतुम्**) ले चलने मे (**समर्था**) समर्थ है (**इति**) इस प्रकार (**भक्त्या**) भक्तिपूर्वक (**सततम्**) निरन्तर (**भावनीया**) भावना करनी चाहिए ।

अर्थ—'यह एक, मरण के अन्त समय मे होने वाली, सल्लेखना ही मेरे धर्मरूपी धन को मेरे साथ ले चलने मे समर्थ है'—इस प्रकार भक्तिपूर्वक निरन्तर भावना करनी चाहिये ।

विशेषार्थ—इस श्लोक मे सल्लेखना पूर्वक मरण का उपदेश है । 'सल्लेखना' का अर्थ है सम्यक् प्रकार से कषायो को कृश करना । बाह्य तथा अन्तरग के भेद से सल्लेखना दो प्रकार की है । बाह्य मे शरीर को कृश करने के लिये आहार का क्रम-क्रम से घटाना अथवा सर्वथा त्याग करना 'काय सल्लेखना' है तथा अन्तरंग मे ससार के कारणभूत मिथ्यात्व तथा क्रोधादि कषायो का घटाना अथवा सर्वथा त्याग करना 'कषाय सल्लेखना' है । पचाणुव्रत आदि के समान गृहस्थ/श्रावक को मरण समय निकट जानकर सल्लेखना अवश्य धारण करनी चाहिये । जीव को ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि 'यदि मरण समय

परिणाम बिगड़ गये तो दुर्गति मे जाऊँगा, जीवन पर्यन्त की धर्म साधना अथवा धर्मपालन रूपी धन को सल्लेखना ही मेरे साथ परलोक मे ले जा सकती है, अत मुझे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सल्लेखना धारण करनी चाहिए।' उसे समस्त सूक्ष्म तथा स्थूल पापो का तथा क्रोधादि का परित्याग करके धमध्यानपूर्वक शरीर का त्याग करना चाहिए। इस समय यथाशक्ति अन्न-पान इत्यादि का क्रम-क्रम से अथवा सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

श्रावक को सल्लेखना धारण करने का विचार सदा करते रहना चाहिये—

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम्॥
॥५-२-१७६॥

अन्वयार्थ– (**अहं**) मैं (**मरणान्ते**) मरण के अन्त समय (**अवश्यम्**) अवश्य ही (**विधिना**) शास्त्रोक्त विधि से (**सल्लेखना**) सल्लेखना धारण (**करिष्यामि**) करूँगा (**इति**) इस प्रकार (**भावनापरिणत**) भावनारूप परिणति करके (**अनागतमपि**) मरण काल आने से पहले ही (**इद**) यह (**शीलम्**) सल्लेखनाव्रत (**पालयेत्**) पालना चाहिये।

अर्थ—'मैं मरण के अन्त समय अवश्य ही शास्त्रोक्त विधि से सल्लेखना धारण करूगा'– इस प्रकार भावना रूप परिणति करके मरणकाल आने से पहले ही यह सल्लेखनाव्रत पालना चाहिये।

विशेषार्थ—सल्लेखना का धारण तो अन्तकाल अर्थात् मरण समय मे होता है। परन्तु जीव की आयु प्रति समय घटती जाती है, जिसके अन्त मे मरना अनिवार्य है। 'मैं अन्त समय मे अवश्य ही शास्त्रो की विधि अनुसार सल्लेखना धारण करूँगा'—ऐसी प्रतिज्ञा तथा भावना सतत करते रहना चाहिए। सतत ऐसी भावना करने से सल्लेखना धारण करने का सकल्प/उत्साह प्रतिसमय दृढ होता जाता

है तथा सल्लेखनाव्रत धारण करने से पहले ही यह शील पालन करने में आ जाता है। इसलिए मरण समय सल्लेखना धारण करने का परिणाम बनाए रखना चाहिए।

सल्लेखना आत्मघात नही है—

मरणेऽवश्यंभाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥
॥ ५-३-१७७ ॥

अन्वयार्थ—(**अवश्यं**) अवश्य ही (**भाविनि**) होने वाले (**मरणे**) मरण होने पर (**कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे**) कषाय सल्लेखना के कृश करने मात्र के व्यापार मे (**व्याप्रियमाणस्य**) प्रवर्त्तमान पुरुष को (**रागादिमन्तरेण**) रागादि भावो के अभाव मे (**आत्मघात·**) आत्मघात (**न अस्ति**) नही है।

अर्थ—अवश्य ही होने वाले मरण होने पर (अर्थात् जिस समय मरण होना निश्चित ही हो) कषाय सल्लेखना के कृश करने मात्र के व्यापार मे प्रवर्त्तमान पुरुष को रागादि के अभाव मे आत्मघात नही है।

विशेषार्थ—जब किसी भी उपाय से जीवित रहने की सभावना न हो अर्थात् मरण के अवश्यंभावी होने पर उस समय विधिपूर्वक सल्लेखना धारण करके शरीर का त्याग करने मे आत्मघात का दोष नही लगता। क्योकि सल्लेखना धारण करने वाला जीव अपना अन्त समय निकट जानकर समस्त पापो, क्रोधादि कषायो, रागद्वेषादि तथा सासारिक विषयो का परित्याग करके धर्मध्यानपूर्वक स्वेच्छा से शरीर का त्याग करता है, इसलिये कषाय भावो का अभाव होने से उसे आत्मघात का दोष किसी प्रकार भी नही लगता। यदि कषायो के वशीभूत होकर अग्नि मे जलकर, पानी मे डूबकर अथवा शस्त्रघात इत्यादि से मरण करे तो आत्मघात का दोष अवश्य लगेगा।

आत्मघाती कौन है ?—

यो हि कषायाविष्ट कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः ।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ॥
॥ ५-४-१७८ ॥

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय ही (**कषायाविष्टः**) क्रोधादि कषायो से घिरा हुआ (**यः**) जो पुरुष (**कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः**) श्वास-निरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्रादि से अपने (**प्राणान्**) प्राणो को (**व्यपरोपयति**) पृथक् करता है (**तस्य**) उसका यह घात (**सत्यम्**) वास्तव मे (**आत्मवधः**) आत्मघात (**स्यात्**) होता है ।

अर्थ—निश्चय ही क्रोधादि कषायो से घिरा हुआ जो पुरुष श्वास-निरोध, जल, अग्नि, विष, शस्त्रादि से अपने प्राणो को पृथक् करता है (अन्त करता है), उसका यह घात वास्तव मे आत्मघात होता है।

विशेषार्थ—जब कोई जीव क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा मोह, राग, द्वेष के वशीभूत होकर श्वास का निरोध करके, पानी मे डूबकर, अग्नि मे जलकर, विष खाकर, शस्त्रादि से घात करके, फाँसी लगाकर अथवा और भी अन्य किसी प्रकार से अपने प्राणो का घात करता है तो उसे आत्मघात कहते हैं । परन्तु समस्त कषायो के त्यागपूर्वक, शास्त्रविधि अनुसार सल्लेखना ग्रहण करके, धर्मध्यान मे लीन होकर जो मरण किया जाता है—शरीर का त्याग किया जाता है, वह आत्मघात नही कहलाता ।

सल्लेखना, आराधना, समाधिमरण या सन्यासमरण—इन सबका एक ही अर्थ है । सल्लेखना का विधान मुनि तथा गृहस्थ दोनो के लिये है, इसलिये इसका कथन बारह व्रतो के बाद किया गया है । जब शरीर किसी असाध्य रोग से अथवा बुढापे से असमर्थ हो जाए, या देव, मनुष्य, तिर्यंच कृत कोई दुर्निवार उपद्रव/उपसर्ग आ पडे अथवा कही अकाल पडने से भोजन आदि की व्यवस्था न बने तथा और भी कोई ऐसा कारण उपस्थित हो जाए जिससे धर्मसाधना में

बाधा आये या धर्म का नाश होता हो तो सल्लेखना धारण करनी चाहिये। शरीर की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है, क्योंकि धर्म का साधन शरीर के माध्यम मे ही होता है। रोगादिक होने पर यथा-योग्य उपचार करना चाहिए। यदि रोग असाध्य है, उपचार से लाभ की कोई सभावना न रहे तो विधिपूर्वक धर्मसाधना करते हुए शरीर का त्याग करना चाहिए। सल्लेखना मे आहार का त्याग दो प्रकार से होता है—एक 'नियम' रूप से तथा दूसरा 'यम' रूप से। समय की मर्यादा रखकर जो त्याग किया जाता है उसे नियम रूप त्याग कहते हैं तथा जीवनपर्यन्त जो त्याग किया जाता है उसे यमरूप त्याग कहते हैं। यदि मरण मे किसी प्रकार का सन्देह हो अथवा रोगादि का उपचार संभव हो तो मर्यादापूर्वक नियम रूप से आहार के त्याग की प्रतिज्ञा करनी चाहिए और यदि मरण निश्चित/अवश्यभावी हो तो यम रूप त्याग करना चाहिए। मृत्यु के पश्चात् शरीर तो फिर भी प्राप्त हो जाएगा, परन्तु रत्नत्रय रूप धर्मसाधना की योग्यता दुर्लभ है। सल्लेखना धारण करने वाले को समस्त मोह, राग, द्वेष तथा परिग्रह रूपी भावो के त्यागपूर्वक, शरीर से ममत्व छोडकर, चार प्रकार के संघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) की साक्षी-पूर्वक सल्लेखना ग्रहण करनी चाहए। अन्त समय सल्लेखना धारण करने से जीवनभर की हुई धर्म-आराधना सफल हो जाती है, क्योंकि क्षणमात्र मे चिरकाल-सचित पाप नष्ट हो जाते हैं तथा सद्गति की प्राप्ति होती है। यदि असयमपूर्वक अथवा शरीर मे एकत्व बुद्धिपूर्वक या सक्लेश परिणामों मे मृत्यु हो जाये तो अन्तमरण बिगडने से जीवन भर की धर्मसाधना निष्फल हो जाए तथा दुर्गति की प्राप्ति हो जाए। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यदि अन्त समय सल्लेखना धारण करने से ही पापों का नाश तथा सद्गति की प्राप्ति इत्यादि सर्व मनोरथ सिद्ध जाते हैं तो जीवन भर धर्मसाधना करने की क्या आव-श्यकता है? समाधान—जिस प्रकार कोई सैनिक जीवन भर तो शस्त्र अभ्यास करे परन्तु युद्ध के समय शस्त्र का प्रयोग न कर सके तो उसका सारा अभ्यास बेकार ही हुआ। उसी प्रकार जीवनपर्यंत तो व्रत, संयम, तप इत्यादि से रत्नत्रय रूप धर्म की साधना की, और अन्त समय मे सल्लेखना धारण न कर सके तो जीवनभर की साधना

बेकार ही हुई। अन्तसमय सल्लेखना धारण करना ही तप इत्यादि का फल है। जीवनभर निरन्तर धर्म की आराधना मे सावधान रहने वाले पुरुष ही सल्लेखना ग्रहण कर सकते हैं।

अब सल्लेखना ग्रहण करने की विधि का वर्णन करते हैं:— सल्लेखनार्थी पुरुष को चाहिए कि समस्त सासारिक धन-सम्पदा से सर्वथा मोह छोड दे। स्त्री-पुत्र तथा कुटुम्बियो से भी ममत्व भाव का परित्याग कर दे। समस्त कुटुम्बी तथा परिजनो से अपने आपको क्षमा कराए तथा स्वय भी उनको क्षमा करे। तत्पश्चात् घर छोड कर जहाँ तक बन सके तीर्थस्थान मे अथवा किसी मन्दिर इत्यादि मे अनुभवी साधर्मी आचार्यश्री की सहायता अवश्य ले तथा उनकी देख-रेख मे उनकी आज्ञा के अनुसार आचरण करे। आचार्यश्री के सन्मुख अपने कृत, कारित अथवा अनुमोदित समस्त पापो की तथा व्रतो मे लगे अतिचारो की, निष्कपट भाव से, बालकवत् आलोचना करके प्रायश्चित्तपूर्वक अन्तरग का शोधन करना चाहिए। उसके पश्चात् अगर हो सके तो दिगम्बर मुनि के अहिसादि महाव्रतो को ग्रहण करे अथवा एलक/क्षुल्लक के व्रतो का ग्रहण करना चाहिए।

आचार्य के सम्बोधन से सन्तुष्ट होकर क्रम-क्रम से आहार का त्याग करना चाहिए, क्योकि एक साथ त्याग करने से आकुलता हो सकती है। सबसे पहले अन्न-दाल, रोटी-चावल इत्यादि का क्रम से त्याग करके दूध आदि पीने योग्य पदार्थो को बढ़ाना चाहिए। तत्पश्चात् उनको भी छोड दे तथा छाछ आदि को बढावे और फिर उसका भी त्याग करके केवल गरम पानी ग्रहण करे। भय, शोक, मोह, क्लेश इत्यादि को बल और उत्साहपूर्वक त्याग कर प्रसन्न चित्त से शास्त्रो को स्वय पढे अथवा दूसरो से सुने। पच-परमेष्ठी के गुणो का चिन्तन करे।

अन्त मे गरम पानी का भी त्याग करके उपवास करना चाहिये। कदाचित् शक्ति की हीनता हो तो उपवास न करने मे कोई हानि नही है। अन्त समय किसी प्रकार की आकुलता से परिणाम नही बिगडने चाहिये, यही सल्लेखना की सफलता है। णमोकार मन्त्र का

जाप करते-करते अथवा अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु का ध्यान करते हुये पूर्ण सावधानी पूर्वक पूर्व अथवा उत्तर की ओर मुख करके शरीर त्यागना चाहिये। यह सल्लेखना ग्रहण करने की संक्षिप्त विधि है।

सल्लेखना भी अहिंसा है—

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि तत प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम्॥
॥५-५-१७६॥

अन्वयार्थ—(**अत**) क्योंकि (**अत्र**) इस सल्लेखना मरण मे (**हिंसाया**) हिंसा की (**हेतवः**) हेतुभूत (**कषायाः**) कषाय (**तनुताम्**) क्षीणता को (**नीयन्ते**) प्राप्त होती हैं (**ततः**) इसलिये (**सल्लेखनामपि**) सल्लेखना को भी आचार्य (**अहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं**) अहिंसा को सिद्धि के लिये ही (**प्राहुः**) कहते हैं।

अर्थ—क्योंकि इस सल्लेखना मरण मे हिंसा की हेतुभूत कषाय क्षीणता को प्राप्त होती हैं, इसलिये सल्लेखना को भी आचार्य अहिंसा की सिद्धि के लिये ही कहते हैं।

विशेषार्थ—काम, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मोह, राग, द्वेषादि कषाय है और उनके वशीभूत होकर ही व्यक्ति सर्व प्रकार की हिंसा करता है, अत कषायें ही हिंसा को मूल कारण हैं। सल्लेखना ग्रहण करने पर कषाये क्षीण हो जाती हैं, अथवा घट जाती हैं। इसलिये कषायो की मन्दता अथवा अभाव मे अहिंसाव्रत की सिद्धि/शुद्धि होती है। इस प्रकार सल्लेखना का ग्रहण भी अहिंसा है।

शीलो के कथन का सकोच—

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः॥
॥ ५-६-१८० ॥

अन्वयार्थ—(य.) जो (इति) इस प्रकार (व्रतरक्षार्थं) पञ्च अणुव्रतो की रक्षा के लिए (सकलशीलानि) समस्त शीलों को (सततं) निरन्तर (पालयति) पालता है (तम्) उस पुरुष को (शिवपदश्रीः) मोक्षरूपी लक्ष्मी (उत्सुका) उत्सुकतापूर्वक (पतिंवरा इव) स्वयवर की कन्या की तरह (स्वयमेव) स्वय ही (वरयति) स्वीकार करती है—प्राप्त होती है।

अर्थ—जो इस प्रकार पँचाणुव्रतो की रक्षा के लिए समस्त शीलो को निरन्तर पालता है, उस पुरुष को मोक्षरूपी लक्ष्मी उत्सुकतापूर्वक स्वयवर की कन्या की तरह स्वय ही स्वीकार करती है—प्राप्त होती है।

विशेषार्थ—जो भव्य धर्मात्मा जीव पाँच अणुव्रतो का तथा उनकी रक्षा के लिए तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत तथा अन्त मे सल्लेखना का निरन्तर पालन करता है, उसे मुक्तिपद की प्राप्ति अवश्य होती है। इसी तथ्य को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते है। जैसे स्वयवर मण्डप मे कन्या स्वय ही अपने योग्य पुरुष को देखकर वरमाला डाल देती है, वैसे ही मुक्तिरूपी कन्या अपने योग्य अणुव्रतादि से सयुक्त व्रतधारी जीव को अपना स्वामी बना लेती है, अर्थात् वह जीव ससार से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार अब तक श्रावक के पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, एक सल्लेखना तथा एक सम्यक्त्व—इस प्रकार श्रावक के योग्य चौदह विषयो का वर्णन समाप्त हुआ। आगे इनके अतिचारो का वर्णन करेंगे।

।। पाँचवाँ सल्लेखनाधर्म अधिकार समाप्त हुआ ।।

(६) अतिचार अधिकार

अतिचारो का त्याग करना चाहिये—

अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्चेति ।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धप्रतिबन्धिनो हेयाः ॥
॥ ६-१-१८१ ॥

अन्वयार्थ—(**सम्यक्त्वे**) सम्यक्त्व में (**व्रतेषु**) व्रतों मे और (**शीलेषु**) शीलों मे (**पञ्च पञ्चेति**) पांच-पांच के क्रम से (**अमी**) यह (**सप्ततिः**) सत्तर (**यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनः**) यथार्थ शुद्धि के रोकने वाले (**अतिचारा**) अतिचार (**हेयाः**) छोडने योग्य हैं ।

अर्थ—सम्यक्त्व मे, व्रतो मे और शीलो मे पांच-पांच के क्रम से यह सत्तर यथार्थ शुद्धि के रोकने वाले अतिचार छोडने योग्य हैं ।

विशेषार्थ—इस श्लोक मे अतिचारो—व्रतो मे लगने वाले दोषो के त्याग का उपदेश है । प्रमाद, शिथिलता अथवा आलस्य तथा राग के कारण अन्तरंग अथवा बहिरग व्रत का एकदेश भग होना अर्थात् व्रत मे दूषण लगना 'अतिचार' कहलाता है । व्रत का सर्वदेश भंग होना 'अनाचार' कहा जाता है । अतिचार लगने से व्रतो की यथार्थ शुद्धता नष्ट हो जाती है, अतः उनका (अतिचारों का) त्याग करना परम आवश्यक है । सम्यग्दर्शन, पाँच अणुव्रतो, तीन गुणव्रतो, चार शिक्षाव्रतो तथा सल्लेखना—इस प्रकार चौदह विषयो मे प्रत्येक के पाँच-पाँच अतिचार होने से कुल सख्या सत्तर हो जाती है । इनमें पूर्ण शुद्धि बनाये रखने के लिये अतिचारो का सावधानीपूर्वक त्याग करना चाहिए ।

सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार—

शङ्का तथैव काङ्क्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टीनाम् ।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥
॥ ६-२-१८२ ॥

अन्वयार्थ—(**शङ्का**) सन्देह (**काङ्क्षा**) वाछा (**विचिकित्सा**) ग्लानि (**तथैव**) उसी प्रकार (**अन्यदृष्टीनाम्**) मिथ्यादृष्टियो की (**संस्तव**) स्तुति (**च**) और (**मनसा**) मन से (**तत्प्रशंसा**) उनको प्रशंसा करना (**सम्यग्दृष्टे**) सम्यग्दृष्टि के (**अतिचारा**·) अतिचार हैं।

अर्थ—सन्देह, वांछा, ग्लानि, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टियो की स्तुति और मन से उनकी प्रशसा करना सम्यग्दृष्टि के अतिचार है।

विशेषार्थ—शङ्का, काङ्क्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि-सस्तव और अन्यदृष्टि मनसा प्रशंसा—ये सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार हैं। जब तक सम्यग्दर्शन के अतिचारो का त्याग नही होता, तब तक जीव निश्चय सम्यग्दृष्टि नही हो सकता। (१) जिनेन्द्रदेव के अनेकान्त-मय वचनो मे शंका/सन्देह करना 'शङ्का' अतिचार है। (२) व्रत पालन के फलस्वरूप इस लोक अथवा परलोक सम्बन्धी भोगो की वाछा/इच्छा करना 'काङ्क्षा' अतिचार है। (३) अनिष्ट दुर्गन्धमय पदार्थों अथवा मुनिराज के मलिन शरीर को देखकर ग्लानि/घृणा करना 'विचिकित्सा' अतिचार है। (४) पाखडी मिथ्यादृष्टि जीव की वचन से सराहना/बडाई करना अथवा स्तुति करना 'अन्यदृष्टि-सस्तव' अतिचार है, तथा (५) उन्ही मिथ्यादृष्टियो के कार्यों की मन से प्रशसा/सराहना करना 'अन्यदृष्टिमनसा प्रशसा' अतिचार है। इन अतिचारो से सम्यग्दर्शन मे मलिनता आती है, अत इनका साव-धानीपूर्वक त्याग करना चाहिए।

अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार—

छेदनताडनबन्धा भारस्यारोपण समधिकस्य ।
पानान्नयोश्च रोधः पञ्चाहिंसाव्रतस्येति ॥
॥ ६-३-१८३ ॥

अन्वयार्थ—(छेदनताडनबन्धा) छेदना, ताड़न करना, बांधना, (समधिकस्य) बहुत अधिक (भारस्य) बोझ का (आरोपणं) लादनां (च) और (पानान्नयोः) अन्न-जल (रोधः) रोकना—न देना (इति) इस प्रकार ये (अहिंसाव्रतस्य) अहिंसाणुव्रत के (पञ्च) पाँच अतिचार हैं।

अर्थ—छेदन, ताडन करना, बांधना, बहुत अधिक बोझ का लादना और अन्नजल रोकना—न देना—इस प्रकार अहिंसाणुव्रत के ये पाँच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—यहाँ अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार—छेदन, ताडन, बन्ध, 'समधिकस्य भारस्यारोपण' तथा 'पानान्नयो रोध' का वर्णन है। (१) दुर्भावना से किसी भी जीव के कान, नाक, हाथ, पैर इत्यादि अंग छेदना/काटना 'छेदन' अतिचार है। (२) लकडी, कोड़ा, चाबुक इत्यादि से पीटना/मारना 'ताडन' अतिचार है। (३) स्वेच्छा-पूर्वक गमन करने वाले किसी भी जीव को एक स्थान पर रोके रखना, बाँधे रखना, पिंजरे मे बन्द रखना अथवा उसके इच्छित स्थान पर जाने से रोकना 'बन्ध' अतिचार है। (४) मनुष्य अथवा उट, घोडा, बैल इत्यादि पर उनकी शक्ति से अधिक बोझ लादना 'समधिकस्य भारस्यारोपण' अतिचार है तथा (५) योग्य समय पर उन्हे खान-पान इत्यादि (रोटी, चारा, घास, पानी इत्यादि) न देना अथवा उन्हे भूखे रखना 'पानान्नयो रोध' अतिचार है। इन पाँच अतिचारो से अहिंसाणुव्रत मलिन होता है, अत इनका त्याग करना चाहिए।

सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार—

मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती।
न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च॥

॥ ६-४-१८४ ॥

अन्वयार्थ—(**मिथ्योपदेशदान**) झूठा उपदेश देना (**रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती**) एकान्त की गुप्त बातों का प्रकट करना, झूठा लेख लिखना (**न्यासापहारवचन**) धरोहर को हरण करने के वचन कहना (**च**) और (**साकारमन्त्रभेद**) काय की चेष्टा से जानकर दूसरे का अभिप्राय प्रकट करना—ये सत्याणुव्रत के पांच अतिचार हैं।

अर्थ—झूठा उपदेश देना, एकान्त की गुप्त बातो को प्रकट करना झूठा लेख लिखना, धरोहर को हरण करने के वचन कहना और काय की चेष्टा से जानकर दूसरे का अभिप्राय प्रकट करना—ये सत्याणुव्रत के पांच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—मिथ्योपदेशदान, रहसोऽभ्याख्यान, कूटलेखकृति, न्यासापहारवचन और साकारमन्त्रभेद—ये सत्याणुव्रत के पांच अतिचार हैं। (१) स्वर्ग और मोक्ष मार्ग के विपरीत अथवा अन्य कोई सिद्धात विरुद्ध झूठा उपदेश देना जिससे जीवो का अहित हो 'मिथ्योपदेशदान' अतिचार है। (२) किसी स्त्री-पुरुष की गुप्त बात अथवा एकान्त मे की हुई क्रिया को प्रकट करना 'रहसोऽभ्याख्यान' अतिचार है। (३) झूठा लेख लिखना अथवा किसी को ठगने के लिए कपटपूर्वक झूठी रसीद या अन्य जालो दस्तावेज बनाना, झूठो गवाही इत्यादि देना 'कूटलेखकृति' अतिचार है। (४) किसी की धरोहर मार लेना या मारने की चेष्टा करना, ज्यादा धरोहर की जगह कम देना, या कोई व्यक्ति धरोहर तो ज्यादा रख गया परन्तु कालान्तर से भूलने के कारण कम मांगने लगे तो उसे उतनी ही वापिस करना, शेष मार लेना 'न्यासापहारवचन' है, तथा (५) किसी के शरीर की आकृति या चेष्टा देखकर उसका अभिप्राय प्रकट करना 'साकारमन्त्रभेद' है। ये सत्याणुव्रत के पांच अतिचार हैं, इनका त्याग अवश्य करना चाहिए।

अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार—

प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम् ।
राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च ॥
॥ ६-५-१८५ ॥

अन्वयार्थ—(**प्रतिरूपव्यवहारः**) प्रतिरूप व्यवहार (**स्तेननियोगः**) चोरी करने वाले की सहायता करना (**तदाहृतादानम्**) चोरी की वस्तुओ को रखना (**च**) और (**राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे**) राज्य के कानूनो का उल्लघन करना, माप या तौल के गज/मीटर, काँटा-तराजू इत्यादि माप मे कम-ज्यादा करना—ये अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

अर्थ—प्रतिरूपव्यवहार, चोरी करने वाले की सहायता करना, चोरी की वस्तु रखना, राज्य के कानूनो का उल्लघन करना, माप या तौल के गज/मीटर, काँटा-तराजू इत्यादि माप मे कम-ज्यादा करना—ये अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—प्रतिरूपव्यवहार, स्तेननियोग, तदाहृतादान, राजविरोधातिक्रम, हीनाधिकमानकरण—ये अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं। (१) असली के बदले नकली वस्तु बेचना, असली मे नकली वस्तु मिलाकर असली वस्तु के भाव बेचना या बढिया वस्तु मे घटिया वस्तु की मिलावट करके बेचना 'प्रतिरूपव्यवहार' अतिचार है। (२) चोरी करने के उपाय बताना, चोरी करने की प्रेरणा देना अथवा अनुमोदना करना 'स्तेननियोग' अतिचार है। (३) जानबूझकर चोरी की वस्तु अपने पास रखना अथवा खरीदना 'तदाहृतादान' अतिचार है। (४) राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना या राज्य के अर्थविषयक (Economic) कानून भग करना अथवा तस्करी करना या करो (Taxes) की चोरी करना 'राजविरोधातिक्रम' अतिचार है, तथा (५) वस्तु खरीदते समय मापने-तौलने के उपकरण—मीटर, बाट इत्यादि अधिक रखना ताकि ज्यादा वस्तु की प्राप्ति हो और मूल्य कम वस्तु का देना पडे और बेचते समय उपकरण कम रखना ताकि दाम पूरे मिले और वस्तु कम दी जाये, इस प्रकार

अनुचित लाभ उठाना 'हीनाधिकमानकरण' अतिचार है। इन सब क्रियाओ में चोरी का दोष लगता है तथा पकडे जाने पर समाज मे मानहानि तथा राज्य से दण्डित होना पडता है, अत इनका त्याग करना चाहिए।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार—

स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम् ।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयो पञ्च ॥
॥ ६-७-१८६ ॥

अन्वयार्थ—(**स्मरतीव्राभिनिवेश**) कामसेवन की तीव्र इच्छा रखना (**अनङ्गक्रीडा**) योग्य अङ्गो से भिन्न दूसरे अगो से क्रीडा करना (**अन्यपरिणयनकरणम्**) दूसरे का विवाह करना (**च**) और (**अपरिगृहीतेतरयो**) कुवारी अथवा विवाहित (**इत्वरिकयो**) व्यभिचारिणी स्त्रियो के पास (**गमने**) जाना अथवा उनसे लेनदेन आदि का व्यवहार करना (**एते**) ये ब्रह्मचर्याणुव्रत के (**पञ्च**) पाँच अतिचार है।

अर्थ—कामसेवन की तीव्र इच्छा रखना, योग्य अगो से भिन्न दूसरे अगो से क्रीडा करना, दूसरे का विवाह करना और कुँवारी अथवा विवाहित व्यभिचारिणी स्त्रियो के पास जाना अथवा उनसे लेन-देन आदि का व्यवहार करना—ये ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार है।

विशेषार्थ—स्मरतीव्राभिनिवेश, अनङ्गक्रीडा, अन्यपरिणयनकरण, अपरिगृहीत-इत्वरिका-गमन व परिगृहीत-इत्वरिका-गमन—ये ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार है। (१) कामभोग विषय सेवन (मैथुन) की तीव्र लालसा रखना 'स्मरतीव्राभिनिवेश अतिचार है। (२) विषय-सेवन के अग निश्चित है, उन अगो के अतिरिक्त अन्य अगो से अथवा अन्य अगो मे क्रीडा करना 'अनङ्गक्रीडा' अतिचार है। (३) बिचोलिया बनकर अन्य लोगो के पुत्र-पुत्रियो के विवाह करवाना

'अन्यपरिणयनकरण' अतिचार है। (४) इत्वरिका— व्यभिचारिणी स्त्री दो प्रकार की होती हैं—एक अपरिगृहीता अर्थात् अनब्याही वेश्या, कन्या अथवा दासी इत्यादि तथा दूसरी परिगृहीता अर्थात् अन्य पुरुषं की विवाहिता पत्नी। व्यभिचारिणी कुवारो स्त्री, वेश्या, कन्या अथवा दासी इत्यादि के पास जाना, उनसे लेन-देन करना, उनके रूपश्रृगारादि को देखना, उनसे बात-चीत करना अपरिगृहीत-इत्वरिका गमन अतिचार है तथा (५) व्यभिचारिणी विवाहित स्त्री के साथ भी इसी प्रकार का (उपर्युक्त) व्यवहार करना 'परिगृहीता-इत्वरिकागमन' अतिचार है। ये पाँच अतिचार ब्रह्मचर्याणुव्रत मे मलिनता उत्पन्न करते हैं अत इनको अवश्य छोडना चाहिये।

परिग्रहपरिमाणव्रत के पाँच अतिचार—

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम् ।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रिया पञ्च ॥
॥ ६-८-१८७ ॥

अन्वयार्थ—(**वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम्**) घर, भूमि, सोना-चाँदी, हीरा, मोती आदि सम्पदा, धन, धान्य, दास, दासी और (**कुप्यस्य**) वस्त्र आदि के (**भेदयो**) दोनो भेदो के (**अपि**) भी (**परिमाणातिक्रिया**) परिमाण का उल्लघन करना—ये परिग्रह परिमाण व्रत के (**पञ्च**) पाँच अतिचार है।

अर्थ—घर-भूमि, सोना-चाँदी, हीरा-मोती तथा आभूषण इत्यादि सम्पदा, धन-धान्य, दास-दासी और वस्त्र आदि के दोनों भेदो के भी परिमाण का उल्लघन करना—ये परिग्रहपरिमाणव्रत के पाँच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—क्षेत्र-वास्तु के परिमाण का उल्लघन, चाँदी-सोना-हीरा, मोती, तथा आभूषण आदि के परिमाण का उल्लंघन, धन-धान्य के परिमाण का उल्लघन, दासी-दास के परिमाण का उल्लघन तथा कुप्य आदि परिमाण का उल्लंघन—ये परिग्रहपरिमाणव्रत के

पाँच अतिचार हैं। (१) क्षेत्र-वास्तु (खेत और घर) का परिमाण बढ़ा देना, (२) सोना-चाँदी, हीरा-मोती तथा आभूषण इत्यादि का परिमाण बढा देना, (३) धन-धान्य (गाय, भैंस, घोड़ा इत्यादि पशु तथा गेहू, चना, चावल इत्यादि अन्न) का परिमाण बढा देना, (४) दासी-दास का परिमाण बढा देना, तथा (५) कुप्य आदि (सब प्रकार के वस्त्र और बरतन इत्यादि) का परिमाण बढा देना—ये परिग्रह-परिमाणव्रत के पाँच अतिचार है। अथवा किसी भी युगल मे एक का परिमाण कम करके दूसरे का परिमाण बढा लेना भी अतिचार है, जैसे—क्षेत्र-वास्तु युगल मे निश्चित किये गये 'क्षेत्र' के परिमाण को कम करके 'वास्तु' का परिमाण बढा लेना। पदार्थों मे मूर्च्छाभाव घटाने के लिये अतिचारो का त्याग आवश्यक है।

दिग्व्रत के पाँच अतिचार—

ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमा क्षेत्रवृद्धिराधानम्।
स्मृत्यन्तरस्य गदिता पञ्चेति प्रथमशीलस्य॥
॥ ६-६-१८८ ॥

अन्वयार्थ—(**ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमा**) ऊपर, नीचे और तिर्यक् भूमि की मर्यादित सीमा का उल्लघन करना (**क्षेत्रवृद्धि**) लोभादिवश मर्यादित क्षेत्र को बढाना (**स्मृत्यन्तरस्य आधानम्**) मर्यादित क्षेत्र को भूलकर अतिरिक्त क्षेत्र को धारण करना (**इति**) इस प्रकार (**प्रथमशीलस्य**) प्रथमशील—दिग्व्रत के (**पञ्च**) पाँच अतिचार (**गदिता**) कहे गए हैं।

अर्थ—ऊपर, नीचे और तिर्यक् भूमि की मर्यादित सीमा का उल्लंघन करना, लोभादिवश मर्यादित क्षेत्र को बढ़ाना, मर्यादित क्षेत्र को भूलकर अतिरिक्त क्षेत्र को धारण करना, इस प्रकार प्रथमशील—दिग्व्रत के पाँच अतिचार कहे गए हैं।

विशेषार्थ—ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्र-वृद्धि और स्मृत्यन्तराधान—ये दिग्व्रत के पाँच अतिचार हैं। (१)

पर्वतो पर चढ़ते समय अथवा हवाई जहाज से यात्रा करते समय ऊपर की दिशा में मर्यादित सीमा का उल्लघन करना 'ऊर्ध्वव्यतिक्रम' अतिचार है। (२) गहरे कुएँ में या खानादि मे नीचे जाते समय मर्यादित सीमा का उल्लघन करना 'अधोव्यतिक्रम' अतिचार है (३) बिल, गुफा अथवा तहखाने में घुसते समय मर्यादित तिर्यक् (समान भूमि) दिशाओ का उल्लघन करना 'तिर्यग्व्यतिक्रम' अतिचार है। (४) चारो दिशाओ तथा चारो विदिशाओ मे मर्यादित सीमा को लोभ के वश बढाना अथवा किसी दिशा की मर्यादा कम करके दूसरी दिशा की मर्यादा बढाना 'क्षेत्रवृद्धि' अतिचार है तथा (५) मर्यादित सीमा को भूलकर उसका उल्लघन करना 'स्मृत्यन्तराधान' अतिचार है। व्रती पुरुष को की हुई मर्यादाओ का उल्लघन नही करना चाहिए।

देशव्रत के पाँच अतिचार—

प्रेष्यस्य संप्रयोजनमानयन शब्दरूपविनिपातौ।
क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पञ्चेति॥
॥ ६-१०-१८६ ॥

अन्वयार्थ—(**प्रेष्यस्य सप्रयोजनम्**) मर्यादित क्षेत्र के बाहर दूसरे पुरुष को भेजना (**आनयनं**) वहा से कोई वस्तु मगाना (**शब्दरूप-विनिपातौ**) शब्द सुनाना, रूप दिखाना, इशारा करना और (**पुद्गलानां**) ककड आदि पुद्गल (**क्षेपोऽपि**) फेंकना भी (**इति**) इस प्रकार (**द्वितीयशीलस्य**) दूसरे शीलव्रत—देशव्रत के (**पञ्च**) पाँच अतिचार कहे गए हैं।

अर्थ—मर्यादित क्षेत्र के बाहर दूसरे पुरुष को भेजना, वहा से कोई वस्तु मगाना, शब्द सुनाना, रूप दिखाना, इशारा करना और ककड आदि पुद्गल फेंकना भी—इस प्रकार दूसरे शीलव्रत—देशव्रत के पाँच अतिचार कहे गये हैं।

विशेषार्थ—प्रेष्यसप्रयोजन, आनयन, शब्दविनिपात, रूपविनिपात और पुद्गलक्षेप—ये देशव्रत के पाँच अतिचार हैं (१) स्वयं तो

मर्यादित क्षेत्र के अन्दर रहना परन्तु नौकर आदि को मर्यादा के बाहर भेजकर काम करालेना 'प्रेष्यसंप्रयोजन' अतिचार है। (२) मर्यादित क्षेत्र के बाहर से वस्तु मगालेना 'आनयन' अतिचार है। (३) मर्यादित क्षेत्र के बाहर शब्द करके अर्थात् बोलकर अपना काम करवाना 'शब्दविनिपात' अतिचार है। (४) मर्यादित क्षेत्र के बाहर अपना रूप दिखाकर काम करालेना 'रूपविनिपात' अतिचार है तथा (५) मर्यादित क्षेत्र के बाहर ककड इत्यादि कोई वस्तु फेक कर अपना काम करालेना 'पुद्गल क्षेप' अतिचार है। जब रागादिक भावो पर काबू नही रहता तभी व्रतो मे अतिचार लगते हैं। व्रतधारी को इन अतिचारो से बचना चाहिए।

अनर्थदण्डत्यागव्रत के पांच अतिचार—

कन्दर्पं कौत्कुच्य भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यम्।
असमीक्षिताधिकरण तृतीयशीलस्य पञ्चेति ॥
॥ ६-११-१६० ॥

अन्वयार्थ - (**कन्दर्पं**) रागभाव से हास्य सहित भांड वचन बोलना (**कौत्कुच्य**) हास्य वचन सहित काय की कुचेष्टा करना (**भोगानर्थक्यम्**) भोगोपभोग के पदार्थों का जरूरत से अधिक सग्रह करना (**मौखर्यम्**) फालतू बकवाद करना (**च**) और (**असमीक्षिताधिकरण**) बिना सोचे विचारे कार्य करना (**इति**) इस प्रकार (**तृतीयशीलस्य**) तीसरे शीलव्रत—अनर्थदण्डविरतिव्रत के (**अपि**) भी (**पञ्च**) पांच अतिचार हैं।

अर्थ—रागभाव से हास्य सहित भाड वचन बोलना, हास्य वचन सहित काय की कुचेष्टा करना, भोगोपभोग पदार्थों का जरूरत से ज्यादा सग्रह करना, फालतू बकवाद करना और बिना सोचे-विचारे कार्य करना—इस प्रकार तीसरे शीलव्रत—अनर्थदण्डविरतिव्रत के भी पांच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—कन्दर्प, कौत्कुच्य, भोगानर्थक्य, मौखर्य तथा असमीक्षाधिकरण—ये अनर्थदण्डत्यागव्रत के पांच अतिचार है। (१) राग-

भाव से हास्यसहित कामवर्द्धक अशिष्ट भौंड वचन बोलना 'कन्दर्प' अतिचार है। (२) हास्य वचन बोलना तथा साथ-साथ शरीर की कुचेष्टा करना 'कौत्कुच्य' अतिचार है। (३) अपनी जरूरत से अधिक भोगोपभोग की सामग्री इकट्ठी करना 'भोगानर्थक्य' अतिचार है। (४) बिना प्रयोजन बकवाद करना, धृष्टता युक्त असभ्य वचन बोलना अथवा लडाई-झगडा कराने वाले वचन बोलना 'मौखर्य' अतिचार है तथा (५) बिना विचारे प्रयोजन से अधिक काय करना अथवा मन, वचन, काय की निष्प्रयोजन प्रवृत्ति करना 'असमीक्षाधिकरण' अतिचार है। यह सब कार्य व्रत मे मलिनता उत्पन्न करते हैं, अत त्यागने योग्य हैं।

सामायिक शिक्षाव्रत के पांच अतिचार—

वचनमनःकायानां दुःप्रणिधान त्यनादरश्चैव।
स्मृत्यनुपस्थानयुता· पञ्चेति चतुर्थशीलस्य॥
॥ ६-१२-१६१ ॥

अन्वयार्थ—(**वचनमन·कायानां**) वचन, मन और काय की (**दुःप्रणिधान**) खोटी प्रवृत्ति (**तु**) तथा (**अनादर**) अनादर (**च**) और (**स्मृत्यनुपस्थानयुता**) एकाग्रता न होने के कारण मंत्रपाठ या विधि का भूल जाना (**एव**) भी (**इति**) इस प्रकार (**चतुर्थशीलस्य**) चौथे शीलव्रत—सामायिक व्रत के (**पञ्च**) पाँच अतिचार हैं।

अर्थ—वचन, मन और काय की खोटी प्रवृत्ति तथा अनादर और एकाग्रता न होने के कारण मत्रपाठ या विधि का भूल जाना भी— इस प्रकार चौथे शीलव्रत—सामायिक व्रत के पांच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—वचनदु प्रणिधान, मन दु·प्रणिधान, कायदु प्रणिधान, अनादर तथा स्मृत्यनुपस्थान—ये चौथे शीलव्रत अर्थात् सामायिक शिक्षाव्रत के पांच अतिचार हैं (१) सामायिक पाठ का अथवा मंत्रादि का शुद्ध उच्चारण न करना, या वचन की अन्यथा प्रवृत्ति करना ,वचनदु प्रणिधान' अतिचार है। (२) मन को सामायिक मे न

लगाना, मन मे बुरी भावना उत्पन्न होना अथवा मन को अन्य सासारिक सकल्प-विकल्प मे उलझाना 'मन.दु प्रणिधान' अतिचार है। (३) सामायिक करते समय हाथ-पैर हिलाना, आसन बदलना अथवा शरीर की निश्चलता न होना 'कायदु प्रणिधान' अतिचार है। (४) आदर पूर्वक सामायिक न करना अथवा उत्साहहीन होकर बेगार समझकर सामायिक करना 'अनादर' अतिचार है। (५) सामायिक के मन्त्रपाठ अथवा विधि का भूल जाना 'स्मृत्यनुपस्थान' अतिचार है। सामायिक मे मन, वचन और काय—इन तीन योगो की एकाग्रता अति आवश्यक है, इसके बिना सामायिक मे स्थिरता नही आ सकती। इन अतिचारो को टालकर सामायिक करनी चाहिए।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार—

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादान संस्तरस्तथोत्सर्गः ।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ॥
॥ ६-१३-१९२ ॥

अन्वयार्थ—(**अनवेक्षिताप्रमार्जितम् आदान**) बिना देखे तथा बिना शोधे ग्रहण करना (**संस्तर**) चटाई आदि बिछाना (**तथा**) तथा (**उत्सर्ग**) मल-मूत्र त्याग करना (**स्मृत्यनुपस्थानम्**) उपवास की विधि इत्यादि भूल जाना (**च**) और (**अनादर**) अनादर—ये (**उपवासस्य**) प्रोषधोपवास के (**पञ्च**) पाँच अतिचार हैं।

अर्थ—बिना देखे तथा बिना शोधे ग्रहण करना, चटाई आदि बिछाना तथा मल-मूत्र का त्याग करना, उपवास की विधि इत्यादि भूल जाना और अनादर—ये प्रोषधोपवास के पांच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—इस श्लोक मे 'अनवेक्षिताप्रमार्जित' शब्द का सम्बन्ध आदान, सस्तर तथा उत्सर्ग—इन तीनो शब्दो के साथ किया गया है। तदनुसार अनवेक्षिताप्रमार्जित आदान, अनवेक्षिताप्रमार्जित सस्तर अनवेक्षिताप्रमार्जित उत्सर्ग, स्मृत्यनुपस्थान तथा अनादर—ये प्रोषधोपवास के पांच अतिचार होते हैं। (१) बिना देखे-भाले तथा कोमल उपकरण से बिना शोधे/पोछे पूजा के बरतन/सामग्री इत्यादि कोई

वस्तु ग्रहण करना 'अनवेक्षिताप्रमार्जित आदान' अतिचार है। (२) बिना देखे तथा बिना शोधे बैठना, सोना अथवा बिस्तर/चटाई बिछाना 'अनवेक्षिताप्रमार्जित सस्तर' अतिचार है। (३) बिना देखे तथा बिना साफ किये भूमि पर मल-मूत्र का त्याग करना 'अनवेक्षिताप्रमार्जित उत्सर्ग' अतिचार है। (४) एकाग्रता न होने के कारण उपवास के नियम, विधि अथवा कर्त्तव्य को भूल जाना 'स्मृत्यनुपस्थान' अतिचार है तथा (५) उपवास की क्रिया मे उत्साह न होना अथवा उपवास जल्दी समाप्त होने की आकुलता होना 'अनादर' अतिचार है। उपवास के दिन भूख-प्यास की आकुलता के कारण कोई भी कार्य असावधानीपूर्वक नही करना चाहिए। असावधानी से जीवो की विराधना होती है अत सबही अतिचारो का त्याग करना चाहिए।

भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार—

आहारो हि सचित्त. सचित्तमिश्रः सचित्तसम्बन्ध ।
दुष्पक्वोऽभिषवोऽपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य ॥
॥ ६-१४-१९३ ॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय ही (सचित्त. आहार) सचित्त आहार (सचित्तमिश्रः) सचित्त मिश्रित आहार (सचित्तसम्बन्धः) सचित्त सम्बन्ध वाला आहार (दुष्पक्वः) दुष्पक्व आहार (च अपि) और (अभिषव) पौष्टिक—कामोत्पादक आहार (अमी) ये (षष्ठशीलस्य) छठे शीलव्रत अर्थात् भोगोपभोगपरिमाण व्रत के (पञ्च) पाँच अतिचार हैं।

अर्थ—निश्चय ही सचित्त आहार, सचित्त मिश्रित आहार, सचित्त सम्बन्ध वाला आहार, दुष्पक्व आहार और पौष्टिक—कामोत्पादक आहार—ये छठे शीलव्रत अर्थात् भोगोपभोगपरिमाणव्रत के पाँच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—यहाँ 'आहार' शब्द का सभी अतिचारो के साथ सम्बन्ध करने से भोगोपभोगपरिमाण नामक छठे शीलव्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार बनते हैं—सचित्ताहार, सचित्त मिश्राहार, सचित्त-सम्बन्धाहार, दुष्पक्वाहार तथा अभिषवाहार। (१) सचित्त अर्थात् जीव सहित वस्तु का अथवा कच्ची हरी वस्तु का आहार करना 'सचित्ताहार' अतिचार है। (२) सचित्त तथा अचित्त (जीव रहित) मिश्रित वस्तु का आहार करना 'सचित्तमिश्राहार' अतिचार है। (३) सचित्त वस्तु (हरे पत्ते इत्यादि) से ढका हुआ अथवा सचित्त वस्तु पर रखा हुआ आहार करना 'सचित्तसम्बन्धाहार' अतिचार है। (४) जो सही प्रकार आग पर न पकी हो, कच्ची हो अथवा ज्यादा पक गई हो—ऐसी वस्तु का आहार करना 'दुष्पक्वाहार' अतिचार है। ऐसा आहार करने से पाचन यथार्थ न होने से पेट की पीडा आदि रोग हो जाते है। (५) पौष्टिक अर्थात् दूध-घी मिश्रित कामोत्पादक/बलवर्द्धक वस्तु का आहार करना 'अभिषवाहार' अतिचार है। खाद्य पदार्थों मे आसक्ति/लालसा मिटाने के लिए तथा सयम पालन के लिए इन अतिचारो का त्याग करना चाहिए।

वैयावृत्य अतिथिसविभागव्रत के पाँच अतिचार—

परदातृव्यपदेश· सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च।
कालस्यातिक्रमण मात्सर्यं चेत्यतिथिदाने ॥
॥ ६-१५-१९४ ॥

अन्वयार्थ—(**परदातृव्यपदेशः**) परदातृव्यपदेश (**सचित्तनिक्षेप-तत्पिधाने च**) सचित्तनिक्षेप और सचित्तपिधान (**कालस्यातिक्रमणं**) काल का अतिक्रमण (**च**) और (**मात्सर्यं**) मात्सर्य (**इति**) इस प्रकार (**अतिथिदाने**) अतिथिसविभाग के पाँच अतिचार हैं।

अर्थ—परदातृव्यपदेश, सचित्तनिक्षेप और सचित्तपिधान, काल का अतिक्रमण और मात्सर्य—इस प्रकार अतिथिसविभागव्रत के पाँच अतिचार हैं।

विशेषार्थ—इस श्लोक मे अतिथिसंविभागव्रत—आहारदान की मुख्यता से अतिचारों का कथन है। परदातृव्यपदेश, सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, कालातिक्रमण तथा मात्सर्य—ये आहारदान के पाँच अतिचार हैं। (१) घर-गृहस्थी इत्यादि सम्बन्धी कार्यों मे अधिक व्यस्त होने के कारण स्वय आहार न देकर किसी दूसरे व्यक्ति से आहार दिलवाना 'परव्यपदेश' अतिचार है। (२) आहार की वस्तु को सचित्त हरे पत्ते इत्यादि पर रखना 'सचित्तनिक्षेप' अतिचार है। (३) आहार की वस्तु को सचित्त हरे पत्ते इत्यादि से ढांकना 'सचित्त-पिधान' अतिचार है। (४) मुनिराज के आहार के समय घर पर न रहना अथवा उस समय तक आहार तैयार न करना 'कालातिक्रमण' अतिचार है। (५) अपने घर पर मुनिराज की विधि न मिलने पर या अन्य किसी भी कारण से दूसरे श्रावक के घर आहार हो जाने पर, उससे (श्रावक से) ईर्ष्या करना अथवा उसकी प्रशंसा सहन न होना 'मात्सर्य' अतिचार है। सयमी/व्रती/त्यागी पुरुष सचित्त वस्तु के त्यागी होते हैं, अत. उपर्युक्त अतिचारो को बचाकर उन्हे प्रासुक/शुद्ध आहार देना चाहिए।

सल्लेखनाव्रत के पाँच अतिचार—

जीवितमरणाशसे सुहृदनुराग सुखानुबन्धश्च।
सनिदान पञ्चते भवन्ति सल्लेखनाकाले॥
॥ ६-१६-१६५ ॥

अन्वयार्थ—(**जीवितमरणाशसे**) जीने की अभिलाषा, मरने की अभिलाषा (**सुहृदनुरागः**) मित्रो के प्रति अनुराग (**सुखानुबन्धः**) सुख के प्रति आसक्ति (**च**) और (**सनिदानः**) निदान सहित (**एते**) ये (**पञ्च**) पाँच अतिचार (**सल्लेखनाकाले**) सल्लेखना के समय (**भवन्ति**) होतेहैं।

अर्थ—जीने की अभिलाषा, मरने की अभिलाषा, मित्रो के प्रति अनुराग, सुख के प्रति आसक्ति और निदान सहित—ये पाँच अतिचार सल्लेखना के समय होते हैं।

विशेषार्थ—यह सल्लेखनाव्रत के दोषो का वर्णन है। जीविताशसा, मरणाशसा, सुहृदनुराग, सुखानुबन्ध और निदान करना—ये सल्लेखनाव्रत के पाँच अतिचार हैं। (१) सल्लेखनाव्रत ग्रहण करने के पश्चात् और अधिक समय तक जीवित रहने की अभिलाषा करना 'जीविताशसा' अतिचार है। (२) सल्लेखना व्रत धारण करने के पश्चात् तीव्र रोग/वेदना इत्यादि से घबराकर जल्दी मरने की इच्छा करना 'मरणाशसा' अतिचार है। (३) अपने मित्रादि के रागवश उनके साथ की हुई क्रीडा आदि का स्मरण/चिन्तन करना 'सुहृदनुराग' अतिचार है। (४) पूर्व मे भोगे हुए नाना भोगोपभोग विषयो का अथवा सुख-सामग्री इत्यादि का स्मरण/चिन्तन या उनमे आसक्ति होना 'सुखानुबन्ध' अतिचार है तथा (५) सल्लेखना धारण या धर्म सेवन के फलस्वरूप आगामी भव (जीवन) मे अच्छे-अच्छे भोगो की प्राप्ति की इच्छा करना 'निदान' अतिचार है। अन्त समय मे इन अतिचारो का सावधानीपूर्वक त्याग करके पचपरमेष्ठी के स्मरणपूर्वक शरीर छोडना चाहिए।

अतिचार के त्याग का फल—

इत्येतानतिचारानपरानपि संप्रतर्क्य परिवर्ज्य।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात्॥
॥ ६-१७-१९६॥

अन्वयार्थ—(**इति**) इस प्रकार गृहस्थ (**एतान्**) इन पूर्वोक्त (**अतिचारान्**) अतिचारो और (**अपरान्**) दूसरे—अतिक्रम, व्यतिक्रम आदि को (**अपि**) भी (**सप्रतर्क्य**) अच्छी तरह विचारपूर्वक (**परिवर्ज्य**) छोडकर (**अमलैः**) निर्मल (**सम्यक्त्वव्रतशीलै**) सम्यक्त्व, पाँच अणुव्रत और सात शीलव्रतो द्वारा (**अचिरात्**) थोडे ही समय मे (**पुरुषार्थसिद्धिम्**) पुरुषार्थसिद्धि—मोक्ष (**एति**) को पाते है।

अर्थ—इस प्रकार गृहस्थ इन पूर्वोक्त अतिचारो और दूसरे—अतिक्रम, व्यतिक्रम आदि को भी अच्छी तरह विचारपूर्वक छोडकर

निर्मल सम्यक्त्व, पंचाणुव्रत और सात शील व्रतो द्वारा थोड़े ही समय मे पुरुषार्थसिद्धि को अर्थात् मोक्ष को पाता है।

विशेषार्थ—जो निर्मल बुद्धि गृहस्थ पूर्वोक्त श्लोकों मे कथित अतिचारो रहित तथा अन्य समस्त दोषों रहित, शुद्ध सम्यग्दर्शन सहित पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत तथा सल्लेखनाव्रत का निर्दोष पालन करता है, वह शीघ्र ही पुरुषार्थसिद्धि अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि जो जीव शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्म के तप के बल से निश्चय रत्नत्रय की पूर्णता प्राप्त कर लेता है वही मोक्ष की प्राप्ति करता है। अन्य जिन जीवो की रत्नत्रय की पूर्णता नहीं हो पाती वे स्वर्ग को तथा परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

॥ छठा अतिचार अधिकार समाप्त हुआ ॥

(७) सकलचारित्र अधिकार

तप का भी आचरण करना चाहिए—

चारित्रान्तर्भावात् तपोऽपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम् ।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्य समाहितस्वान्तैः ॥
॥ ७-१-१९७ ॥

अन्वयार्थ—(**आगमे**) जैन आगम मे (**चारित्रान्तर्भावात्**) चारित्र मे अन्तर्भाव होने से (**तप.**) तप को (**अपि**) भी (**मोक्षाङ्गम्**) मोक्ष का अग (**गदितम्**) कहा गया है अत (**अनिगूहितनिजवीर्यै:**) अपनी शक्ति को न छिपाने वाले तथा (**समाहितस्वान्तै**) सावधान चित्त वाले पुरुषो को (**तदपि**) उस तप का भी (**निषेव्य**) सेवन करना चाहिए ।

अर्थ—जैन आगम मे चारित्र मे अन्तर्भाव होने से तप को भी मोक्ष का अग कहा गया है, अत अपनी शक्ति को न छिपाने वाले तथा सावधान चित्त वाले पुरुषो को उस तप का भी सेवन करना चाहिए।

विशेषार्थ—वास्तव मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र—इन तीनो की एकरूपता ही मोक्षमार्ग है, परन्तु तप का चारित्र मे अन्तर्भाव होने से तप को भी मोक्ष का एक अग कहा गया है। रागादिक कषाय भावो के नाश विना तप नही हो सकता, अत उन कषाय भावो के नाश का नाम ही चारित्र है । तप करने के लिए दो बातो की आवश्यकता है—एक तो अपनी शक्ति को न छिपाना तथा दूसरे अपने मन को वश मे करना । जो व्यक्ति अपनी शक्ति को छिपाकर ऐसा कहता है कि 'मैं तप नही कर सकता', उसका तप अगीकार करना असभव है । जिसका मन उसके वश मे नही, उसके

तप अंगीकार कर लेने पर भी इच्छाय बनी रहेंगी और इच्छाओं के बने रहने पर उसके किसी प्रकार का तप सभव नहीं, क्योकि 'इच्छा-निरोधस्तपः'—इच्छा का निरोध करना ही तप है। इसलिए मुमुक्षु जीव को अपनी शक्ति को न छिपाते हुए तथा मन को वश मे करके तप ग्रहण करना चाहिए।

'तप' एक प्रकार का व्यवहार चारित्र है। व्यवहार चारित्र से निश्चय चारित्र जो कि सम्यक्चारित्र है उसको प्राप्ति होती है, अर्थात् यह नियम है कि तपश्चरण बिना सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती ही नही, इसलिए मोक्ष के इच्छुक पुरुषो को तप अवश्य धारण करना चाहिए।' (प० टोडरमल—टोका पु० सि०)

बाह्य तप के छह भेद—

अनशनमवमौदर्यं विविक्तशय्यासन रसत्याग ।
कायक्लेशो वृत्ते सख्या च निषेव्यमिति तपो बाह्यम् ।।
।। ७-२-१९८ ।।

अन्वयार्थ—(**अनशनम्**) अनशन (**अवमौदर्यं**) ऊनोदर (**विविक्त-शय्यासन**) विविक्तशय्यासन (**रसत्याग.**) रस परित्याग (**कायक्लेश.**) कायक्लेश (**च**) और (**वृत्ते.सख्या**) वृत्ति की सख्या (**इति**) इस प्रकार (**बाह्य तप**) बाह्य तप का (**निषेव्यम्**) सेवन करना चाहिए।

अर्थ—अनशन, ऊनोदर, विविक्त शय्यासन, रस परित्याग, कायक्लेश और वृत्ति परिसख्यान—इस प्रकार बाह्य तप का सेवन करना चाहिए।

विशेषार्थ—जो कर्मक्षय अथवा कर्मदहन के लिए तपा जाता है वह तप है। वह तप दो प्रकार है—एक बाह्य तप तथा दूसरा अन्त-रग तप। इस श्लोक मे बाह्य तप का वर्णन है। यह तप शरीर द्वारा किया जाता है तथा दूसरो के द्वारा देखने मे आता है, इसलिए 'बाह्य तप' कहलाता है। अनशन, अवमौदर्य, विविक्तशय्यासन, रसत्याग,

कायक्लेश तथा वृत्ति सख्या के भेद से बाह्य तप छह प्रकार है। (१) मन, वचन, काय से तथा कृत, कारित, अनुमोदना से चारों प्रकार के आहार के त्याग को 'अनशन' कहते हैं। आहार के चार भेद इस प्रकार हैं—(i) पेट भरने के लिए हाथ से खाने योग्य दाल, रोटी, चावल इत्यादि को 'खाद्य' कहते हैं। (ii) स्वादमात्र की वस्तु सुपारी, इलायची इत्यादि अथवा पेडा, बरफी इत्यादि मिष्ठान्न 'स्वाद्य' कहलाते हैं। (iii) चटनी इत्यादि चाटने की वस्तुये 'लेह्य' कहलाती हैं तथा (iv) पानी, दूध, रस, शरबत इत्यादि 'पेय' कहलाते हैं। इन चारो प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है। अनशन से राग घटता है, कर्मों की निर्जरा होती है तथा ध्यान-अध्ययन की प्राप्ति होती। (२) पुरुष का आहार बत्तीस ग्रास तथा स्त्री का आहार अट्ठाईस ग्रास है। अपनी भूख से दो-चार आदि ग्रास कम आहार करना 'अवमौदर्य' है। इससे आलस्य घटता है, निद्रा मिटती है, ध्यान और अध्ययन मे मन लगता है तथा सन्तोष प्राप्त होता है। (३) जहाँ विषयी जीवो का आवागमन न हो, ऐसे एकान्त स्थान मे सोना बैठना अथवा रहना 'विविक्तशय्यासन' है। इससे ब्रह्मचर्य का पालन होता है तथा ध्यान-अध्ययन मे विघ्न नही आता। (४) दूध, घी, दही, तेल, मीठा तथा नमक—ये छह रस हैं। इन छहो रसो का अथवा एक, दो या तीन आदि रसो का त्याग करना 'रसत्याग' है। इनके अतिरिक्त हरी वस्तुओ का भी त्याग करना चाहिए। इस प्रकार के त्याग से इन्द्रिय तथा प्राणी दोनो प्रकार का सयम होता है, पदार्थों की लालसा घटती है तथा स्वाध्याय इत्यादि की वृद्धि होती है। (५) परीषह उत्पन्न करके शारीरिक पीडा को सहन करना 'कायक्लेश' है। इससे शरीर मे दुःख अथवा परीषह इत्यादि सहन करने की क्षमता बढती है। शरीर से ममत्व/राग भाव घटता है। ध्यान की सिद्धि होती है तथा सुख की अभिलाषा भी घटती है। (६) वृत्ति अर्थात् आहार की मर्यादा करना कि 'आज मैं दो गली अथवा दो घर या तीन घर जाऊगा, अमुक विधि से आहार मिलेगा तो लूगा, अन्यथा नही लूंगा'—इस प्रकार प्रतिज्ञा करना 'वृत्तिसख्या' है। इससे आहार-विषयक तृष्णा/गृद्धता का नाश होता है। इन छह बाह्य तपो का यथाशक्ति पालन करना चाहिए।

अन्तरंग तप के छह भेद—

विनयो वैयावृत्त्य प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः।
स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोऽन्तरङ्गमिति ॥
॥ ७-३-१९९ ॥

अन्वयार्थ—(**विनय**) विनय (**वैयावृत्यं**) वैयावृत्य (**प्रायश्चित्तं**) प्रायश्चित्त (**तथैव च**) और इसी प्रकार (**उत्सर्गः**) उत्सर्ग (**स्वाध्यायः**) स्वाध्याय (**अथ**) और (**ध्यानं**) ध्यान (**इति**) इस तरह (**अन्तरंङ्गम्**) अन्तरंग (**तप**) तप (**निषेव्यं**) सेवन करने योग्य (**भवति**) होता है।

अर्थ—विनय, वैयावृत्य, प्रायश्चित्त और इसी प्रकार उत्सर्ग स्वाध्याय और ध्यान—इस तरह अन्तरंग तप सेवन करने योग्य होता है।

विशेषार्थ—यह अन्तरंग तप का कथन है। मन के अधीन होने से इसे अन्तरंग तप कहते हैं। विनय, वैयावृत्य, प्रायश्चित्त, उत्सर्ग, स्वाध्याय तथा ध्यान—ये अन्तरंग तप के छह भेद हैं। (१) पूज्य में आदर भाव रखना 'विनय' तप है। उसके दो भेद हैं—एक मुख्य विनय तथा दूसरी उपचार विनय। मुख्य विनय के तीन भेद हैं—सम्यग्दर्शन विनय, सम्यग्ज्ञान विनय तथा सम्यक्‌चारित्र विनय। इस प्रकार विनय के कुल चार भेद हैं। (i) सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय करना, अपना सम्यग्दर्शन निर्दोष रखना तथा अन्य जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करें—ऐसी भावना करना 'सम्यग्दर्शन विनय' है। (ii) सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करना, ज्ञान का प्रचार करना, शास्त्र स्वाध्याय करना, स्वाध्याय की रुचि बढ़ाने के लिए शास्त्र बाँटना, विद्यालय अथवा स्वाध्यायशाला खुलवाना तथा शास्त्र पढ़कर सुनाना/समझाना इत्यादि 'सम्यग्ज्ञान विनय' है। (iii) स्वयं चारित्र धारण करना, दूसरों को चारित्र धारण करने के लिए प्रेरित करना इत्यादि 'सम्यक्‌चारित्र विनय' है। (iv) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारी आचार्य, साधुओं अथवा अन्य धर्मात्माओं की शरीर से विनय करना 'उपचार विनय' है। उनके आने पर खड़ा होना, हाथ जोड़कर

नमस्कार करना, चरण स्पर्श आदि करना, बैठने के लिए आसन देना उपचार विनय कहलाता है। माता-पिता तथा शिक्षागुरु का आदर करना, तीर्थक्षेत्र वन्दना करना, पूजा-भक्ति करना भी उपचार विनय है। विनय से मान कषाय घटती है तथा दर्शन-ज्ञान आदि गुणो की प्राप्ति होती है।

(२) 'वैयावृत्य'—गुरुजनो —आचार्य, उपाध्याय, साधु, आर्यिका इत्यादि त्यागी धर्मात्मा व्यक्तियो के हाथ-पैर दबाकर सेवा-सुश्रूषा करना, शुद्ध औषधि द्वारा उनके रोग निवारण का उपाय करना, आहारादि से उनका सत्कार करना, शास्त्रादि उपकरण देना, उनके लिए कुटिया/वसतिका बनवाना—ये सब कार्य 'वैयावृत्य तप' कहलाते है। इससे गुणो मे अनुराग बढता है तथा मान कषाय कम होती है।

(३) 'प्रायश्चित्त'—प्रमाद के कारण व्रतो मे लगे दोषो को गुरु के सामने प्रकट करना तथा उनकी आज्ञानुसार प्रतिक्रमण पाठ पढना अथवा दण्डरूप उपवास आदि ग्रहण करना तथा भविष्य मे दोष न करने की प्रतिज्ञा करना 'प्रायश्चित्त तप' है। इससे चारित्र पालन मे तथा परिणामो मे शुद्धि होती है तथा मान आदि कषाएँ घटती है।

(४) 'उत्सर्ग'—शरीर से ममत्व का त्याग करना, अहकार (अपने से भिन्न स्त्री-पुत्रादि को अपना मानना) तथा ममकार (शरीर, इन्द्रियो आदि को अपना मानना) का त्याग करना, अन्तरग क्रोधादि का तथा बाह्य परिग्रह का त्याग करना 'उत्सर्ग तप' है। इससे ममत्व/मोह भाव का नाश होता है तथा निर्भयता प्रकट होती है।

(५) 'स्वाध्याय'—ज्ञानभाव मे आलस्य न करना, शास्त्रो का स्वाध्याय करना, उनका सीखना, दूसरो को सिखाना, विचार—मनन करना, बार-बार शुद्ध उच्चारण करना 'स्वाध्याय तप' है। जहाँ सशय हो वहाँ अन्य ज्ञानी जनो से उसका निवारण करना चाहिए। स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म क्षीण होता है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति

होती है, ससार से वैराग्य होता है, वास्तविक धर्म का बोध तथा वृद्धि होती है। अज्ञान अन्धकार का नाश होता है। स्वाध्याय परम तप है।

(६) 'ध्यान'—समस्त आरम्भ तथा परिग्रह से मुक्त होकर, अन्य समस्त विषयों से चित्त को रोककर मन की एकाग्रतापूर्वक पंच-परमेष्ठी अथवा आत्मा का ध्यान/चिन्तन करना 'ध्यान तप' है। प्रशस्त राग पूर्वक पचपरमेष्ठी का ध्यान, उनके गुणो का चिन्तन शुभध्यान है तथा शुद्धात्मस्वरूप मे एकाग्रता होना शुद्ध ध्यान है। आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान के भेद से ध्यान चार प्रकार का है। आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान अशुभ ध्यान हैं तथा नरक और तिर्यंच गति के कारण हैं। जो धर्मध्यान शुद्धतायुक्त है वह शुभ ध्यान है तथा परम्परा से मोक्ष का करण है। शुक्लध्यान शुद्धध्यान होने से साक्षात् मोक्ष का कारण है। ध्यान से चारित्र की पूर्णता प्राप्त होती है तथा मन, वचन, और काय वश मे होते हैं, पुण्य बन्ध होता है तथा कर्मों की निर्जरा होती है।

जैसे अग्नि सोने को शुद्ध बनाती है, वैसे ही बाह्य और अन्तरग तप आत्मा को शुद्ध करते हैं। तप के विना चारित्र नही होता और चारित्र विना कर्मों की निर्जरा नही होती। अतः यथाशक्ति तप अवश्य करना चाहिए। यहाँ तक गृहस्थ के व्रतो का वर्णन किया। आगे मुनि-धर्म का उपदेश देते हैं।

मुनिव्रत धारण करने का उपदेश—

जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥

॥७-४-२००॥

अन्वयार्थ—(**जिनपुङ्गवप्रवचने**) जिनेश्वरो के सिद्धान्त मे (**मुनी-श्वराणां**) मुनीश्वरो का (**यत्**) जो (**आचरणम्**) आचरण (**उक्तम्**)

कहा है (एतत्) यह (अपि) भी गृहस्थो को (निजां) अपने (पदवीं) पद (च) और (शक्ति) शक्ति का (सुनिरूप्य) भली प्रकार विचार करके (निषेव्यम्) सेवन करना चाहिये।

अर्थ—जिनेश्वरो के सिद्धान्त मे मुनीश्वरो का जो आचरण कहा है, यह भी गृहस्थो को अपने पद और शक्ति का भली प्रकार विचार करके सेवन करना चाहिये।

विशेषार्थ—इस ग्रन्थ मे श्रावकाचार/गृहस्थाचार का मुख्यता से वर्णन किया गया है। कही-कही थोडा-बहुत मुनियो के क्रियाकाण्ड का भी वर्णन है, वह श्रावको/गृहस्थो के प्रयोजन से ही किया गया है। श्रावको को भी अपनी शक्ति तथा पद के अनुसार यथायोग्य इसका आचरण करना चाहिये। अगर सभव हो सके तो अपना कल्याण चाहने वाले प्रत्येक श्रावक को मुनिपद के महाव्रत ग्रहण करने चाहिये। अगर महाव्रत का पालन किसी तरह भी सभव न बन सके तो अणुव्रत का पालन करे तथा तत्पश्चात् महाव्रत अवश्य अगीकार करे। वास्तव मे चारित्र तो एकरूप ही है, जिसका पूर्णतया पालन मुनिराज करते हैं तथा श्रावक उसका 'एकदेश पालन करते है। मुनिराज का जो आचरण श्रावको को पालना चाहिए, उसका आगे के श्लोको मे वर्णन करेंगे।

छह् आवश्यको का वर्णन—

इदमावश्यकषट्क समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यान वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्त्तव्यम्।
॥ ७-५-२०१ ॥

अन्वयार्थ—(**समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्**) समता, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण (**प्रत्याख्यानं**) प्रत्याख्यान (**च**) और (**वपुषो व्युत्सर्गः**) कायोत्सर्ग (**इति**) इस तरह (**इदम्**) यह (**आवश्यकषट्कं**) छह् आवश्यक (**कर्त्तव्यम्**) करने चाहियें।

अर्थ—समता, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग—इस तरह ये छह आवश्यक करने चाहियें।

विशेषार्थ—यहाँ छह आवश्यको का वर्णन है। मुनि तथा श्रावक दोनो को इनका प्रतिदिन पालन करना चाहिये इसलिये इन्हें 'आवश्यक' कहा है। अथवा जो राग, द्वेष आदि के वशीभूत न हो वह 'अवश' है, उस अवश का जो आचरण है वह 'आवश्यक' कहलाता है। मुनियो को इनका सर्वदेश तथा श्रावक को अपनी शक्ति तथा योग्यतानुसार पालन करना चाहिए। समता, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा व्युत्सर्ग—ये छह आवश्यक क्रिया हैं।

(१) 'समता'—राग-द्वेष रहित साम्यभाव रखना, सब जीवो को अपने समान जानना तथा उन पर समता भाव रखना, किसी मे राग-द्वेष नही करना अथवा सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, इष्टवियोग, अनिष्टयोग आदि मे समभाव रखना समता अथवा सामायिक है।

(२) 'स्तव'—अरहन्त/तीर्थंकर भगवान के गुणो का कीर्तन, स्तुति अथवा गुणगान करना स्तव है। अरहन्त इत्यादि को पूज्य मानकर वचन द्वारा बारम्बार उनकी स्तुति करना 'व्यवहार स्तव' है। जो पुरुष रत्नत्रय स्वरूप शुद्ध चैतन्य गुणो के धारक और समस्त कर्मजनित उपाधियो से रहित निज आत्मा की स्तुति करता है वह 'निश्चय स्तव' है।

(३) 'वन्दना'—पचपरमेष्ठी इत्यादि को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से साष्टाग नमस्कार करना, हाथ जोडकर नमस्कार करना अथवा चार शिरोनति तथा बारह आवर्त पूर्वक नमस्कार करना 'व्यवहार वन्दना' है। जो पुरुष निर्मल दर्शन-ज्ञान और चारित्र स्वरूप अपनी उत्तम आत्मा की वन्दना करता है वही उत्तम 'निश्चय वन्दना' है।

(४) 'प्रतिक्रमण'—प्रमाद के कारण पूर्व मे लगे हुए दोषो को दूर करने के लिए पश्चाताप करना अथवा गुरु के समीप जाकर दोष

स्वीकार करना, 'मेरे अपराध मिथ्या हो'—ऐसा कहकर पश्चाताप करना 'व्यवहार प्रतिक्रमण' है। वचन रचना को छोडकर रागादि भावो का निवारण करके जो आत्मा को ध्याता है उसे जो प्रतिक्रमण होता है, वही 'निश्चय प्रतिक्रमण' है।

(५) 'प्रत्याख्यान'—आगामी कर्मास्रव का निरोध—सवर करना अथवा रत्नत्रय मे विघ्न उत्पन्न करने वाले कारणो को मन, वचन, काय से रोकना तथा उनका त्याग करना 'व्यवहार प्रत्याख्यान' है। भविष्यत् काल का शुभाशुभ कर्म जिन भावो से बँधता है, उन भावो से जो आत्मा निवृत्त होता है वह आत्मा प्रत्याख्यान है वही 'निश्चय प्रत्याख्यान' है।

(६) 'व्युत्सर्ग'—काय का त्याग अर्थात् शरीर से ममत्व छोडकर एक आसन पूर्वक ध्यान करना व्युत्सर्ग है। इसे कायोत्सर्ग भी कहते हैं। कायोत्सर्ग के समय शरीर पत्थर की मूर्ति के समान निश्चल होना चाहिये और अनेक कारण उपस्थित होने पर भी चलायमान नही होना चाहिये।

उपर्युक्त षट् आवश्यक मुनि के आवश्यक कर्त्तव्य हैं। इनके विना मुनि पद नही बनता। जिसके इष्टानिष्ट विषयो मे राग-द्वेष है, समताभाव नही है, वह भी मुनि कहलाने का अधिकारी नही। मुनि के लिये दो ही मार्ग है एक शुद्धोपयोग और दूसरा शुभोपयोग। निज-शुद्धात्म स्वरूप की आराधना शुद्धोपयोग है तथा पचपरमेष्ठो की भक्ति-स्तुति तथा स्वाध्याय इत्यादि शुभोपयोग है। ये षट् आवश्यक विशेष रूप से मुनि के लिये कहे हैं, परन्तु यथाशक्ति श्रावक को भी इनका पालन अवश्य करना चाहिये।

तीन गुप्तियो का वर्णन—

सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगम्यम्॥
॥७-६-२०२॥

अन्वयार्थ—(**वपुषः**) शरीर को (**सम्यग्दण्डः**) भली प्रकार—शास्त्रोक्त विधि से वश करना (**तथा**) तथा (**वचनस्य**) वचन का (**सम्यग्दण्डः**) भली प्रकार अवरोधन करना (**च**) और (**मनसः**) मन का (**सम्यग्दण्डः**) सम्यक् रूप से निरोध करना—इस प्रकार (**त्रितयं गुप्तीनां**) तीन गुप्तियो को (**अवगम्यम्**) जानना चाहिये ।

अर्थ—शरीर को भली प्रकार शास्त्रोक्त विधि से वश करना, तथा वचन का भली प्रकार अवरोधन करना और मन का सम्यक्रूप से निरोध करना—इस प्रकार तीन गुप्तियो को जानना चाहिये ।

विशेषार्थ—गुप्ति के तीन भेद हैं—कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनगुप्ति । 'गुप्ति' का अर्थ है—गोपन करना अथवा छिपाना । 'सम्यग्दण्ड' का अर्थ है स्वच्छन्द प्रवृत्ति को भली प्रकार रोकना—वश मे करना । मन, वचन और काय—इन तीनो योगो की स्वच्छन्द प्रवृत्ति को भली प्रकार रोकना, उनसे गुप्त होना त्रिगुप्ति है अथवा मन, वचन और काय की प्रवृत्ति का निरोध करके ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव मात्र मे निश्चय समाधि धारण करना गुप्ति है ।

(१) 'कायगुप्ति'—बन्धन, छेदन, मारण इत्यादि का अथवा त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा का, या चोरी इत्यादि पाप क्रिया का तथा अन्य भी शरीर-सम्बन्धी क्रियाओ को भली प्रकार रोकना 'कायगुप्ति' है ।

(२) 'वचनगुप्ति'—पाप के वचन न बोलना, समस्त असत्य का परिहार करना अथवा वचनो की प्रवृत्ति का त्याग करना, मौन धारण करना 'वचनगुप्ति' है ।

(३) 'मनगुप्ति'—मोह, राग, द्वेष आदि अशुभ भावो का परिहार करना अथवा समस्त सकल्प-विकल्प छोडकर मन की चञ्चलता को रोक कर एकाग्र होना 'मनोगुप्ति' है । गुप्तियो के विना सम्यक्-चारित्र की प्राप्ति सभव नही । जहाँ तीनो गुप्तियो की एकता है वहाँ आत्मध्यान की उत्कृष्टता है, जो कि सवर और मोक्ष का मुख्य साधन है ।

पाँच समितियों का स्वरूप—

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक् ।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गं सम्यगिति समितिः ॥
॥ ७-७-२०३ ॥

अन्वयार्थ—(**सम्यग्गमनागमन**) सावधानी से देख-भाल कर जाना-आना (**सम्यग्भाषा**) उत्तम हित-मित रूप वचन बोलना (**सम्यक् एषणा**) योग्य आहार का ग्रहण करना (**सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ**) पदार्थ का यत्नपूर्वक ग्रहण करना और यत्नपूर्वक रखना (**तथा**) और (**सम्यग्व्युत्सर्ग.**) प्रासुक भूमि देखकर मल-मूत्रादि का त्याग करना—(**इति**) इस प्रकार ये पाँच (**समितिः**) समितियाँ हैं ।

अर्थ—सावधानी से देख-भाल कर जाना-आना, उत्तम हितमित वचन बोलना, योग्य आहार का ग्रहण करना, पदार्थ का यत्नपूर्वक ग्रहण करना तथा यत्नपूर्वक रखना और प्रासुक भूमि देखकर मल-मूत्रादि का त्याग करना—इस प्रकार ये पाँच समितियाँ हैं ।

विशेषार्थ—'समिति' का अर्थ है किसी भी कार्य मे भली प्रकार परिणति—कार्यरत होना । यहाँ सम्यग्गमनागमन, सम्यग्भाषा, सम्यग् एषणा, सम्यग्ग्रह-निक्षेप तथा सम्यग्व्युत्सर्ग—इन पाँच समितियो का वर्णन है ।

(१) 'सम्यग्गमनागमन/ईर्यासमिति'—दिन के समय जब सूर्य का उजाला हो जाए, स्पष्ट दिखने लगे तब घोड़ा-गाडी इत्यादि के चलने से प्रासुक हुए मार्ग पर चार हाथ आगे देखकर तथा पैरो को देख-देखकर रखते हुये गमनागमन करना चाहिये जिससे किसी जीव की पैरो के नीचे दबकर विराधना न हो । मुनि तथा श्रावक की इस क्रिया को 'ईर्यासमिति' कहते हैं ।

(२) 'सम्यग्भाषा/भाषा समिति'—हितमित—जीवो का हित करने वाले मधुर वचन बोलना, जिन वचनो मे सन्देह उत्पन्न न हो—ऐसे वचन बोलना, कटु, कठोर, निष्ठुर वचन न बोलना, झूठे वचन न बोलना 'भाषा समिति' है ।

(३) 'सम्यगेषणा/एषणा समिति'—छियालीस दोष तथा बत्तीस अन्तराय टालकर/बचाकर उत्तम कुलीन श्रावक के घर विधिपूर्वक देख-भाल कर एक बार शुद्ध-प्रासुक आहार ग्रहण करना 'एषणा समिति' है।

(४) 'सम्यग्ग्रहनिक्षेप/आदान निक्षेपण समिति—यत्नाचारपूर्वक अच्छी तरह देखकर तथा पीछी इत्यादि से पोछकर शास्त्र, कमण्डलु अथवा अन्य और भी उपकरण उठाना तथा रखना 'आदाननिक्षेपण समिति' है। बिना देखे तथा बिना पोछे किसी भी वस्तु को उठाना या रखना नहीं चाहिये, इससे जीवो का घात होता है।

(५) 'सम्यग्व्युत्सर्ग/प्रतिष्ठापन समिति'—यत्नाचारपूर्वक अच्छी तरह देखकर और पीछी से झाड़कर जीवरहित भूमि पर मल-मूत्र तथा कफ इत्यादि का त्याग करना चाहिये। गीली भूमि पर, जल मे हरी घास इत्यादि जीवसहित भूमि पर मल-मूत्र इत्यादि का त्याग नही करना चाहिये। इन क्रियाओ के पालन को 'प्रतिष्ठापन समिति' कहते है।

उपर्युक्त पाँच समितियो का पालन तो मुनिराज पूर्ण रूप से करते हैं, परन्तु श्रावक को भी यथाशक्ति यत्नाचारपूर्वक इनका यथायोग्य ज्यादा से ज्यादा पालन करना चाहिये।

दस धर्मों का वर्णन—

धर्मः सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम्।
आकिञ्चन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति॥
॥ ७-८-२०४ ॥

अन्वयार्थ—(क्षान्तिः) क्षमा (मृदुत्वम्) मार्दव (ऋजुता) आर्जव (च) और (शौचम्) शौच (च) और (अथ) उसके बाद (सत्यम्) सत्य (च) और (आकिञ्चन्यं) आकिञ्चन्य (ब्रह्म) ब्रह्मचर्य (च) और (त्यागः) त्याग (तपः) तप (च) और (संयमः) संयम—

(इति) इस प्रकार (धर्मः) दस प्रकार का धर्म (सेव्यः) सेवन करना चाहिये।

अर्थ-क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच और उसके बाद सत्य और आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य और त्याग, तप और सयम—इस प्रकार दस प्रकार का धर्म सेवन करना चाहिये।

विशेषार्थ—धर्म तो मूल मे एक ही है, परन्तु परिभाषाएँ अनेक है। वस्तु का स्वभाव धर्म है। चारित्र ही धर्म है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहते हैं। पचपरमेष्ठी आदि की भक्ति करना तथा आहार आदि देना व्यवहार धर्म है। रागादि समस्त दोषो से रहित होकर आत्मा का आत्मा मे रत होना निश्चय धर्म है। जो प्राणियो को ससार के दुःखो से छुडाकर उत्तम इष्ट स्थान—मोक्ष/स्वर्ग प्रदान करे वह धर्म है। धर्म कर्मों का विनाशक है। उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन तथा उत्तम ब्रह्मचर्य उसके दस भेद है। यह दस धर्म मुनि तथा श्रावक को पालने चाहिये। मुनिराज तो इनका पूर्णतया पालन करते है, परन्तु श्रावक को भी अपनी योग्यता तथा शक्ति के अनुसार इनका पालन करना चाहिये। दशधर्म का पालन मोक्ष के साधन मे मुख्य कारण है।

(१) 'उत्तम क्षमा'-क्रोध का त्याग करके क्षमा धारण करना अथवा क्रोध के कारण उत्पन्न होने पर भी आत्मा मे तिल-तुष मात्र कलुषता न लाना 'उत्तम क्षमा' है।

(२) 'उत्तम मार्दव'—मान कषाय का त्याग करके कोमलता, मृदुता, विनयभाव धारण करना अथवा अहं बुद्धि का त्याग करना 'उत्तम मार्दव' है।

(३) 'उत्तम आर्जव'—मायाचार का त्याग करके सरलता धारण करना अथवा योगो की सरलता, एकरूपता, ऋजुता 'उत्तम आर्जव' है।

(४) 'उत्तम शौच'—लोभ का त्याग करके सन्तोष धारण करना अथवा अन्तरंग मे लोभकषाय के अभाव मे उत्पन्न होने वाली, शुचिता, पवित्रता या शुद्धि 'उत्तम शौच' है। अन्तरग शुद्धि और बाह्य शुद्धि के भेद से शुद्धि दो प्रकार की है। शरीर की शुद्धि बाह्य शुद्धि है तथा लोभ कषाय का त्याग करना अन्तरग शुद्धि है। मुनि-राज तो अन्तरग शुद्धि पालते हैं, परन्तु श्रावक को यथाशक्ति दोनो शुद्धियाँ पालनी चाहिए।

(५) 'उत्तम सत्य'—जिनसे दूसरे जीवो को दु:ख उत्पन्न हो ऐसे झूठे, निन्दनीय, कपटी तथा कठोर वचन नही बोलना अथवा कषायों का अभाव करके आत्मसत्य को प्राप्त करना 'उत्तम सत्य' है। यह सम्यक्चारित्र की पर्याय है। श्रावक को भी यथाशक्ति उत्तम सत्य धर्म को पालना चाहिए।

(६) 'उत्तम सयम'—पाँचो इन्द्रियो तथा मन के विषयो को रोकना, वश मे करना तथा पाँच स्थावर तथा त्रस—इस प्रकार छह प्रकार के जीवो की हिंसा न करना सयम है। मन, वचन और काय को वश मे करने से, कषायो का निग्रह करने से, पाँच समितियो के पालन से तथा व्रतो का पालन करने से उत्तम सयम होता है अथवा उपयोग को बाह्य पदार्थों से हटाकर आत्मा मे स्थिर करना उत्तम सयम है।

(७) 'उत्तम तप'—इच्छानिरोधस्तप.'—इच्छाओ का निरोध तप है। जो कर्मों की निर्जरा या पापकर्म के नाश के लिये तपा जाता है वह तप है। निजचैतन्य स्वभाव के प्रताप मे तपना तप है। आत्मा को, आत्मा मे, आत्मा से धारण करना उत्तम तप है। अन्तरग और बहिरग के भेद से तप के बारह भेद हैं।

(८) 'उत्तम त्याग'—आहार, औषध, अभय और ज्ञान दान आदि देना व्यवहार त्याग धर्म है। वास्तव मे तो आत्मा के विकारी भावो का तथा समस्त कषायो का त्याग करना और निजशुद्धात्मा के ग्रहण पूर्वक बाह्य और अन्तरग समस्त चेतन-अचेतन परिग्रह के प्रति मूर्च्छा—ममत्व भाव से निवृत्ति ही उत्तम त्याग है।

(९) 'उत्तम आकिञ्चन्य'—जिसका कुछ नही वह अकिञ्चन है। 'मेरा कुछ नहीं, मेरे दर्शन-ज्ञान इत्यादि गुण ही मेरे हैं'—ऐसा अन्तरग परिणाम रखना, तीन लोक के समस्त पदार्थों से ममत्व भाव छोडकर ससार, शरीर और भोगो से उदासीन परिणाम रखते हुए, समस्त कषायो को हटाकर निजशुद्धात्मस्वरूप मे लीन होना, वही उत्तम आकिञ्चन्य धर्म है।

(१०) 'उत्तम ब्रह्मचर्य'—निर्मल ज्ञान-दर्शन स्वरूप निजशुद्धात्मा मे रमण करना, विचरण करना ब्रह्मचर्य है। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध सुख से विरक्त होकर समस्त शारीरिक, मानसिक और अध्यात्मिक शक्तियो का आत्मविकास के सन्मुख करना, अपनी आत्मा मे लीन होना उत्तम ब्रह्मचर्य है। ऐसा त्याग केवल मुनिराज ही कर सकते हैं। श्रावक जब तक मन, वचन, काय से 'स्त्री' मात्र का त्यागी न हो जाए तब तक उसे एकदेश ब्रह्मचर्य का पालन करके स्व-स्त्री मे सन्तोष रखना चाहिये तथा सभी स्त्रियो का मन, वचन तथा काय से त्याग करना चाहिये।

बारह भावनाओ का वर्णन—

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्रवो जन्म।
लोकवृषबोधिसवरनिर्जरा सततमनुप्रेक्ष्या॥
॥ ७-९-२०५ ॥

अन्वयार्थ—(**अध्रुवम्**) अध्रुव (**अशरणम्**) अशरण (**एकत्वम्**) एकत्व (**अन्यता**) अन्यत्व (**अशौचम्**) अशुचि (**आस्रवः**) आस्रव (**जन्म**) ससार (**लोकवृषबोधिसवरनिर्जराः**) लोक, धर्म, बोधिदुर्लभ, सवर और निर्जरा—इन बारह भावनाओ का (**सततम्**) निरन्तर (**अनुप्रेक्ष्या**) पुनः पुन चिन्तन और मनन करना चाहिए।

अर्थ—अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, ससार, लोक, धर्म, बोधिदुर्लभ, सवर और निर्जरा—इन बारह भावनाओ का निरन्तर पुन पुन मनन और चिन्तन करना चाहिए।

विशेषार्थ—बारह भावना को बारह अनुप्रेक्षा भी कहते हैं। 'अनुप्रेक्षा' का अर्थ है तत्त्वों का तथा ससार के स्वरूप का बार-बार चिन्तन करना। मोक्षाभिलाषी जीवों को इनका प्रतिदिन चिन्तन करना चाहिए। इनका चिन्तन वैराग्य, कर्मक्षय तथा वीतरागता का कारण होता है। अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन तो विकल्प रूप है, पर उस विषय मे आत्मा की एकाग्रता धर्मध्यान है। बारह भावनाओं का क्रम और स्वरूप इस प्रकार है—

(१) 'अनित्य भावना'—ससार की समस्त सम्पदा, शरीर तथा इन्द्रिय भोगादि सभी संयोगी पदार्थ हैं, कर्मजनित हैं अत पानी के बुलबुले के समान नाशवान हैं। सयोग स्वभाव से ही क्षणभगुर तथा विनाशीक हैं, उनका स्थायी रहना असभव है। स्त्री-पुत्र, माता-पिता, धन-सम्पदा, शरीर तथा भोगोपभोगादि से सयोग सम्बन्ध हैं और जहाँ सयोग है वहाँ वियोग नियम से होता है। जो उत्पन्न हुआ है उसका नियम से नाश होगा। अपनी आत्मा ही शाश्वत है, नित्य है अथवा ध्रुव है। संसार के विनाशीक, अध्रुव क्षणभगुर पदार्थों मे से प्रीति हटाकर अपने शुद्धात्म स्वरूप मे लीन होना ही अनित्य भावना है। इसका चिन्तन सभी के लिये उपयोगी तथा शान्तिदायक है।

(२) 'अशरण भावना'—अनित्य भावना मे सयोगो और पर्यायो के अनित्य स्वभाव का चिन्तन है, परन्तु अशरण भावना मे इन्ही संयोगी पदार्थों के अशरण स्वभाव का चिन्तन है। इस ससार मे कोई किसी का शरण नही अर्थात् कोई भी प्राणी किसी को नही बचा सकता। सभी काल के अधीन हैं। मरण काल आने पर स्त्री-पुत्र, माता-पिता आदि परिवारीजन, देवी-देवता तथा सेना आदि कोई नही बचा सकता। और की तो बिसात ही क्या है, तीर्थंकर भगवान मे भी काल को टाल देने की शक्ति नहीं है। काल को पलमात्र भी नही रोका जा सकता। जिस प्रकार जगल मे फिरते मृग को शेर दबोच लेता है, उस समय उसे कोई नही छुड़ा सकता, इसी प्रकार मरते समय देवता, असुर तथा विद्याधर आदि शक्तिशाली जीव तथा मणि, मन्त्र-तन्त्र, औषधि इत्यादि भी जीव को नही बचा सकते।

जो काल से स्वय अपनी रक्षा नहीं कर सके वह दूसरे की रक्षा कैसे कर सकते हैं। इसलिये किसी की शरण नहीं जाना चाहिए। व्यवहारनय से पचपरमेष्ठी तथा जैन धर्म ही शरण हैं। परन्तु निश्चयनय से तो अपना शुद्धात्मा ही शरण है, अन्य कोई नही। वास्तव मे देखा जाए तो मृत्यु से बचाने मे न तो पचपरमेष्ठी शरण हैं और न ही निजशुद्धात्मा। इनकी शरण कहने का केवल इतना ही प्रयोजन है कि मरते समय इनकी शरण अर्थात् चिन्तन से जी आकुल-व्याकुल न होकर सुखपूर्ण प्राण त्यागता है। इस प्रकार का चिन्तन करना अशरण भावना है।

(३) 'ससार भावना'—ससार भावना मे चारो गतियो के दु खो का चिन्तन है। यह संसार महान दु ख रूप है। यदि कही सुख होता तो तीर्थंकरो जैसे पुण्यवान् महापुरुष इसे क्यो छोडते। चारो गतियो मे कही भी सुख नही। नरकगति के छेदन, भेदन, ताडन, तापन इत्यादिक का वर्णन मात्र शरीर मे कपन उत्पन्न पैदा कर देता है। तिर्यंच गति के भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, अतिभारारोपण तथा वध-बन्धन इत्यादि दुःख प्रत्यक्ष ही देखने मे आते है। मनुष्यगति मे भी अनेक चिन्ताएँ तथा दु ख है। रोग, शोक, इष्ट-वियोग, जन्म-जरा और मरण के अनेक दु ख है। निर्धन धन के अभाव मे दु खी है, एक समय की रोटी भी नही जुटा पाता। धनवान् भी कहाँ सुखी है, वह भी तृष्णा वश दु खी है। गोली खाये विना न अन्न पाचन होता है और न ही नीद आती है। कोई सन्तानहीन होने से दु खी है तो कोई व्यसनी सन्तान के कारण दु खी है। देवगति मे विषयवासना, बडे देवो की ऋद्धि, देवागनाओ के वियोग जनित अनेक दुःख हैं। मरण समय निकट जान मोहवश अत्यन्त दु'खी होकर नीच गति की प्राप्ति करते हैं। वास्तविक सुख तो पचमगति—मोक्ष मे ही है। इस प्रकार ससार भावना चतुर्गति रूप ससार से उदासीन करती है।

(४) 'एकत्व भावना'—जीव जन्म से मरण तक हर समय प्रत्येक स्थिति मे अकेला ही है, दूसरा उसका कोई साथ नही देता और न ही साथ दे सकता है। जीव ने अज्ञानवश अन्य को अपना मान रखा

है। जीव सदा अकेला ही है। अकेला जन्म लेता, अकेला मरता है और अकेला ही दुःख-सुख को भोगता है। अकेला पाप कर्म करता है और अकेला ही उसका फल भोगता है। मोक्ष भी अकेला ही प्राप्त करता है। त्रिकाल जीव तो अकेला ही है। ऐसा चिन्तन एकत्व भावना है।

(५) 'अन्यत्व भावना'—आत्मा और शरीर आदि अनेक सयोगो की भिन्नता का चिन्तन करना अन्यत्व भावना है। अनादि काल से शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है, परन्तु फिर भी शरीर और आत्मा अलग-अलग हैं। ससार के समस्त पदार्थ हो जुदा-जुदा हैं। कोई पदार्थ अन्य किसी पदार्थ मे मिला हुआ नहीं है। एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने से एक होने का भ्रम उत्पन्न होता है। जब यह शरीर जिसमे यह जीव नित्य रहता है, वही अपना नही है, तो प्रकट रूप से ही भिन्न स्त्री-पुत्र, धन-सम्पदा इत्यादि एक कैसे हो सकते हैं। जीव का स्वरूप शरीर मे सर्वथा भिन्न है। जीव चैतन्य ज्योति स्वरूपी है। उपयोग को समस्त पर-वस्तुओ से हटाकर, समस्त विकल्पों को छोडकर, इनसे सर्वथा भिन्न अपने शुद्धात्म स्वरूप मे लगाये रहना अन्यत्व भावना है।

(६) 'अशुचि भावना'—जिस शरीर को अपना मानकर हम उसमे रच-पच रहे है, उसका पोषण कर रहे हैं, नाना अलकारो से उसे सजा रहे हैं, सुगन्धित पदार्थों से उसका लेपन कर रहे हैं, जिसमे हमारा भगवान् आत्मा भी रहता है, उस शरीर की क्या स्थिति है?—यह शरीर महान अशुचि रूप है। अतिदुर्गन्धमय तथा अपवित्रता की खान है। कफ, चर्बी, मास, खून-पीपादि मल की थैली है। इसके आँख, कान, नाक, मुँह इत्यादि नौ द्वारो से घिनौना मल बहता रहता है। चमडे की चादर मे लिपटा यह शरीर सात धातुओ से भरा पडा है। यदि इस चादर को हटा दिया जाए तो चील-कौआ इत्यादि हिंसक प्राणियो से इसकी रक्षा करना असभव है। यह शरीर सागरो के जल से धोने तथा इत्र-फुलेल के लेपन करने से भी पवित्र नही हो सकता। इसके अनुराग अथवा ममत्वभाव मे यह दुर्लभ मनुष्य जीवन गँवाना उचित नहीं। इस देह से अत्यन्त भिन्न अपने परम-

पवित्र शुद्ध भगवान् आत्मा का ध्यान, आराधना तथा साधना करना ही मानव-जीवन की सार्थकता है। ऐसा चिन्तन करना अशुचि भावना है।

(७) 'आस्रव भावना'--पाँच मिथ्यात्व, बारह अविरति, पच्चीस कषाय तथा पन्द्रह योग—ये आस्रव के सत्तावन भेद हैं। कर्मास्रव से बचने के लिये इनको भली प्रकार जानना चाहिये। मिथ्यात्व के एकान्त मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, सशय मिथ्यात्व तथा अज्ञान मिथ्यात्व—ऐसे पाँच भेद है। एक नय का हठ ग्रहण करना 'एकान्त मिथ्यात्व' है। अधर्म को धर्म मानना 'विपरीत मिथ्यात्व' है। कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु तथा सच्चे देव, शास्त्र, गुरु सब का विनय करना 'विनय मिथ्यात्व' है। जिनेन्द्र भगवान् के वचनो मे सन्देह करना 'सशय मिथ्यात्व' है। हिताहित की परीक्षा रहित अयोग्य कार्य करना 'अज्ञान मिथ्यात्व' है। पाच इन्द्रियो तथा मन—इन छह का सयम न करना तथा पाँच स्थावर तथा त्रस—इन छह काय के जीवो की रक्षा हेतु दया भाव न होना—ये बारह अविरति हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषाय के प्रत्येक के चार-चार भेद होने से सोलह कषाय तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुँसकवेद तथा नपुँसक वेद—ये नौ नोकषाय—ये सब मिलकर पच्चीस कषाय हैं। चार वचन योग—सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचन-योग, अनुभय वचनयोग, चार मनोयोग—सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग तथा सात काययोग—औदारिक काययोग, औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियिक काययोग, वैक्रियिकमिश्र काययोग, आहारक काययोग, आहारकमिश्र काययोग तथा कार्मण काययोग—ये पन्द्रह योग हैं। इन सत्तावन आस्रव द्वारो से ही शुभाशुभ कर्मों का आगमन होता है। शुभ भाव से शुभ आस्रव तथा अशुभ भाव से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है। आस्रव भाव आत्मस्वभाव से भिन्न हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं तथा दुःख रूप है—ऐसा समझकर शुद्धभाव द्वारा कर्मों का संवर करना चाहिये। शुभा-स्रव—पुण्यास्रव अथवा अशुभास्रव—पापास्रव, दोनो ही आस्रवो का त्यागना आवश्यक है। आस्रव भाव उत्पन्न तो आत्मा मे ही होता है,

परन्तु आत्मस्वभाव से भिन्न है। अत समस्त आस्रवो की सतति से विरक्त होकर आत्मस्वभाव मे अनुरक्त होना आस्रव भावना है। यहाँ ध्यान रहे कि आस्रव भावना आस्रव तत्त्व नही है, बल्कि संवर-तत्त्व है।

(८) 'सवर भावना'—आस्रव का निरोध सवर है। वह सवर तीन गुप्ति, पाँच समिति, दशधर्म, बारह भावना, बाईस परीषह जय तथा पाँच प्रकार के चारित्र से होता है। व्यवहार से उपर्युक्त समिति सवर भावना है, परन्तु निश्चयनय से तो ज्ञान और वैराग्य की सामर्थ्य से अपने को मन, वचन, काय से हटाकर निजशुद्धात्म स्वरूप मे स्थिर करना ही सवर है। सवर ही ससार से छुडाने वाला और मोक्ष ले जाने वाला है। सभी प्राणियो को इसका पुन पुन· चिन्तन करना चाहिये।

(९) 'निर्जरा भावना'—कर्मबन्ध के प्रदेशो का गलना निर्जरा है। शुभाशुभ भावो के निरोध रूप सवर तथा शुद्धापयोग से युक्त जो जीव नाना प्रकार के तप करता है, वह निश्चय ही अनेक प्रकार के कर्मों की निर्जरा करता है। शुद्धोपयोग रूप आत्मध्यान की निरन्तर वृद्धि करना ही भाव निर्जरा है तथा द्रव्यनिर्जरा का मूल है। निर्जरा दो प्रकार की है—सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा। सविपाक निर्जरा तो ज्ञानी-अज्ञानी जीवो के सदा हुआ ही करती है, परन्तु अविपाक निर्जरा तो शुद्धभाव रूप तप आदि करने से ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) जीव के ही होती है तथा उद्यमपूर्वक की जाती है। अविपाक निर्जरा के विना कोई भी जीव इस ससार से मुक्त नही हो सकता। अत. मुमुक्षु जीवो को अविपाक निर्जरा का उपाय अवश्य करना चाहिये। इसी का चिन्तन बार-बार करना निर्जरा भावना है।

(१०) 'लोक भावना'—लोक के तीन भाग हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। इन तीनो लोको का विस्तार-प्रसार तीन सौ तेतालीस घनराजू है। यह चौदह राजू ऊँचा लोक अनादि निधन, अविनाशी तथा स्वयं सिद्ध है। अनन्त आकाश के मध्य मे स्थित

लोकाकाश षट्द्रव्यात्मक है। अधोलोक मे सातवें नरक से नीचे एक राजू तक निगोद है जहाँ स्थावर जीव रहते हैं। वहाँ त्रस जीवो का निवास नही है। शेष छह राजू मे सात नरक हैं जिनके निवासी छेदन, भेदन, मारण, तापन इत्यादि महादु.खो को सदा भोगते हैं। इन नरको के ऊपर भवनवासी तथा व्यन्तर देवो के निवास हैं। मध्यलोक मे असख्यात द्वीप-समुद्र हैं। उनमे ढाई द्वीप और दो समुद्रो मे मानुषोत्तर पर्वत तक मनुष्य लोक है अर्थात् यही तक मनुष्य पाये जाते हैं, इसके बाहर नही। व्यन्तर देव, भवनवासी देव और ज्योतिषी देव तथा तिर्यंच समस्त मध्य लोक मे है। जलचर पचेन्द्रिय तथा विकलत्रय (दो इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक के जीव) तिर्यंच तो ढाईद्वीप तथा अन्त के स्वयभूरमण द्वीप के आधे तथा स्वयभूरमण समुद्र के सारे भाग मे है। शेष समुद्रो मे विकलत्रय जीव नही है। जलचर जीव लवणोदधि तथा स्वयभूरमण—इन तीन समुद्रो मे हैं, अन्य स्थानो मे नही है। इस प्रकार मध्यलोक की और भी रचनाएँ और विस्तार हैं। सुमेरु पर्वत की चोटी तक एक लाख योजन ऊँचा मध्यलोक है। ज्योतिषचक्र (चन्द्र, सूर्य, तारे, नक्षत्र इत्यादि) सात सौ नब्बे योजन से लेकर नौ सौ योजन तक है। मध्य-लोक के ऊपर ऊर्ध्वलोक है, जहाँ स्वर्ग, नवग्रैवेयक, नवअनुदिश, तथा पाँच अनुत्तर हैं। नवग्रैवेयक, नवअनुदिश तथा पचानुत्तर के समस्त देव ब्रह्मचारी हैं। स्वर्गलोक मे स्वर्गवासी तथा पाँच स्थावर ही हैं, अन्य त्रस जीव नही हैं। अन्तिम अनुत्तर सर्वार्थसिद्धि से ऊपर सिद्धलोक है जहाँ अनन्तानन्त सिद्ध जीव विराजमान हैं। इन तीनो लोको की चार गतियो की चौरासी लाख योनियो मे यह जीव अनादि काल से अपने शुद्ध स्वभाव को भूलकर भ्रमण कर रहा है। इस प्रकार लोक को जानकर उससे दृष्टि हटाकर निजशुद्धात्म स्वरूप में स्थित होना लोकभावना है। इस लोक मे एक शुद्धात्मा ही सार है, शेष सब कुछ असार है।

(११) 'बोधि दुर्लभ'—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को 'बोधि' कहते हैं। उसकी प्राप्ति अति दुर्लभ होने से इस भावना का नाम 'बोधिदुर्लभ' है। स्थावर जीवो से यह लोक ठसाठस भरा पड़ा है।

निगोद राशि से व्यवहार राशि (चतुर्गति) मे आना अति दुर्लभ है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति—इन स्थावर जीवो से निकलकर त्रस जीवो मे उत्पन्न होना दुर्लभ है। दो इन्द्रिय से तीन इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय से चार इन्द्रिय तथा चार इन्द्रिय से पचेन्द्रिय असज्ञी जीवो मे उत्पत्ति अतिदुर्लभ है। असज्ञी पचेन्द्रिय से संज्ञी पचेन्द्रिय होना दुर्लभ है। सज्ञी पचेन्द्रियो मे भी मनुष्य गति पाना दुर्लभ है। मनुष्यो मे भी आर्यखण्ड, उत्तम कुल, दीर्घायु, धर्मरुचि पाना अति दुर्लभ है। यह सब भी हुआ तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तथा श्रावक के व्रत धारण करना दुर्लभ है। श्रावक के व्रतो के पश्चात् मुनि के व्रत धारण करना और भी दुर्लभ है तथा मुनिव्रतो मे भी शुद्धोपयोग की दशा प्राप्त करना महान दुर्लभ है। इस ससार मे सोना-चाँदी, धन-धान्य तथा राजसुख इत्यादि तो फिर भी सुलभ है परन्तु यथार्थ ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त करना तो महान दुर्लभ है। केवलज्ञान की प्राप्ति के विना जीव को मोक्ष नही मिल सकता। इसलिये आचार्यश्री प्रेरणा देते हैं कि हे भव्यजीव ! तू नरभव को रागद्वेष तथा विषय भोगो मे मत गँवा। यदि तुझे वास्तव मे सुख चाहिये तो शीघ्र ही घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त कर। अपना स्वभाव तो अपने अन्दर है, कही से लाना नही, फिर उस स्वभाव/स्वरूप की प्राप्ति को दुर्लभ क्यो माने। वह तो अपने अधीन है। पर-वस्तु की प्राप्ति अपने अधीन नही, अत वह दुर्लभ है। यह जीव अनादिकालीन अज्ञान के कारण दुर्लभ के पीछे उसकी प्राप्ति के लिये भाग रहा है। अपनी सुलभ वस्तु के प्रति लक्ष्य नही। ऐसा चिन्तन बोधि दुर्लभ भावना है।

(१२) 'धर्म भावना'—जीव को सुख देने वाला वास्तव मे धर्म ही है। प्रत्येक वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है। अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धर्म है। जो नरक तिर्यंच आदि गतियो से निकाल कर आत्मा को अविनाशी, अतीन्द्रिय मोक्ष सुख मे रखता है वह धर्म है। कल्पवृक्ष सकल्प करनेपर, चिन्तामणि रत्न चिन्तन करने पर फल देता है, किन्तु धर्म तो विना माँगे व विना चिन्तन किये ही उत्तम अनन्त सुख-शान्ति रूप फल देता है। जब यह आत्मा अपने शुद्ध-

ज्ञान—दर्शन स्वरूप धर्म (स्वभाव) मे परिणमन करता है तभी अनन्त सुख-शान्ति को पा सकता है। जब तक शुद्धदर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता नही होती तब तक यह जीव ससार से नही छूटता। अपने शुद्धात्म स्वरूप धर्म को प्राप्त करने का चिन्तन ही धर्म भावना है।

बाईस परीषहो का वर्णन—

क्षुत्तृष्णा हिममुष्ण नग्नत्व याचनाऽरतिरलाभ.।
दशो मशकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमङ्गमलम्॥
॥७-१०-२०६॥

स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शन तथा प्रज्ञा।
सत्कारपुरस्कार शय्या चर्या वधो निषद्या स्त्री॥
॥७-११-२०७॥

द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहा सततम्।
सक्लेशमुक्तमनसा सक्लेशनिमित्तभीतेन॥
॥७-१२-२०८॥

अन्वयार्थ—(**सक्लेशमुक्तमनसा**) सक्लेश रहित चित्तवाला (**सक्लेशनिमित्तभीतेन**) सक्लेश के निमित्त से—ससार से भयभीत साधु को (**सततम्**) निरन्तर (**क्षुत्**) भूख (**तृष्णा**) प्यास (**हिमम्**) सर्दी (**उष्ण**) गरमी (**नग्नत्व**) नग्नपना (**याचना**) प्रार्थना (**अरतिः**) अरति (**अलाभ**) अलाभ (**मशकादीनां दश.**) मच्छर आदि का काटना (**आक्रोश**) कुवचन—गाली (**व्याधिदुःखम्**) रोग का दुःख (**अङ्गमलम्**) शरीर का मैल (**तृणादीना स्पर्शः**) तृण आदि का स्पर्श—काँटा लगना (**अज्ञानम्**) अज्ञान (**अदर्शनम्**) अदर्शन (**तथा**) और इसी प्रकार (**प्रज्ञा**) ज्ञान (**सत्कारपुरस्कारः**) सत्कार पुरस्कार (**शय्या**) शयन (**चर्या**) गमन (**वध**) वध (**निषद्या**) आसन (**च**) और (**स्त्री**) स्त्री (**एते**) ये (**द्वाविंशतिः**) बाईस (**परीषहाः**) परीषह (**अपि**) भी (**परिषोढव्याः**) सहन करने चाहिये।

अर्थ—सक्लेशरहित चित्तवाला और संक्लेश के निमित्त से—ससार से भयभीत साधु को निरन्तर भूख, प्यास, सर्दी, गरमी, नग्नपना, प्रार्थना, अरति, अलाभ, मच्छर आदि का काटना, कुवचन—गाली, रोग का दुःख, शरीर का मैल, तृण आदि का स्पर्श—कांटा लगना, अज्ञान, अदर्शन, और इसी प्रकार ज्ञान, सत्कार पुरस्कार, शयन, गमन, वध, आसन, और स्त्री—ये बाईस परीषह भी सहन करने चाहिये।

विशेषार्थ—'परीषह जय' का अर्थ है सहन करना अथवा परास्त करना। सवर के उपायो मे परीषहजय भी एक उपाय है। भूख, प्यास, गरमी, सर्दी इत्यादि उपर्युक्त बाईस बाधाये उपस्थित होने पर, कर्मों की निर्जरा करने के लिये उनको समताभाव पूर्वक सहन करना अथवा परास्त करना, सक्लेश परिणाम न होना अथवा परम-सामायिक भाव द्वारा अपने शुद्ध आत्मस्वरूप के अनुभव से न डिगना परीषहजय है। भूख-प्यास आदि वेदनाओ के वशीभूत होकर ससारी जीव बहुत दुःखी तथा आकुल-व्याकुल होते है, परन्तु मुनिराज तो अपने शुद्धात्म स्वरूप के अनुभव मे लीन रहते हैं, अत इन वेदनाओ के प्रति उनका लक्ष्य ही नही होता। यदि कदाचित् वेदना का अनुभव हो भी जाए तो उस समय वे विचार करते हैं कि—"हे आत्मन्! तूने अनादि काल से ससार मे परिभ्रमण करते हुए अनेक बार नाना प्रकार अन्न-पान को खाया-पिया तब भी तेरी भूख-प्यास शान्त नही हुई। अनेक बार तूने नरकगति मे अत्यन्त भूख-प्यासादि को सहन किया है। यह शरीर तो नाशवान है, इस समय तू मोक्ष की सिद्धि मे लगा हुआ है इसलिये अपने ज्ञान-दर्शनमय शुद्धात्म स्वरूप मे लीन होकर इन वेदनाओ को शीघ्र चित्त से दूर कर। इस प्रकार तथा अन्य भावनाओ द्वारा साधुगण बाधाओ को परास्त करते हैं। अब बाईस परीषहो का सक्षिप्त वर्णन करते हैं—

(१-२) 'क्षुत्-तृष्णा परीषह'—भूख और प्यास सम्बन्धी अत्यन्त बाधा उत्पन्न होने पर भी अपने चित्त मे उसका तनिक भी विकल्प न होने देना, अपने ध्यान—अध्ययन मे रत रहना क्रमश क्षुत्-तृष्णा परीषह जय है।

(३-४) 'हिमोष्ण परीषह'—पौष-माघ की महा भयकर शीत में महावीर दिगम्बर मुनिराज नदी अथवा सरोवर के किनारे तथा ज्येष्ठ की चिलचिलाती धूप मे पत्थर की तपती हुई शिला पर बैठकर दुर्धर तपश्चरण करते हैं। उस समय सर्दी-गरमी की बाधा की ओर तुषमात्र भी ध्यान न देकर समतापूर्वक आत्मस्वभाव मे स्थित रहते हैं। यह हिमोष्ण परीषह जय है।

(५) 'नग्नत्व परीषह'—बालक के समान निष्कलक जातरूप नग्न मुद्रा धारी मुनिराज सूत इत्यादि समस्त प्रकार के वस्त्रो तथा चर्म, बाल तथा वृक्षो के वल्कलादि के पूर्ण त्यागी होते हैं। नग्न रहने से रंचमात्र भी लज्जा अथवा दुःख नही मानते। वे तो अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने शुद्धात्म स्वरूप मे रमण करते हैं—यह नग्नत्व परीषह जय है।

(६) 'याचना परीषह'—मुनिव्रत का मूल अयाचना वृत्ति है। भूख-प्यास सहते-सहते चाहे शरीर कितना ही कृश हो जाए, फिर भी उनके मन मे याचना का भाव कभी भी उत्पन्न नही होता। आहार-पान इत्यादि के माँगने का तो प्रश्न ही नही, वह तो तीर्थंकर भगवान् से मोक्ष की याचना भी नही करते—यह याचना परीषह जय है।

(७) 'अरति परीषह'—मुनिराज को चाहे इष्ट वियोग हो अथवा अनिष्ट सयोग, कोई उनकी स्तुति अथवा निन्दा करे, उनको सुख हो अथवा दु ख, उनको जीवन हो या मरण, वे किसी भी अवस्था मे रति-अरति अर्थात् राग द्वेष नही करते, अपने चित्त मे सदा ही समता धारण करके अपने स्वरूप मे मग्न रहते हैं—यह अरति परीषह जय है।

(८) 'अलाभ परीषह'—साधु नाना प्रकार के उपवास करके तपश्चरण करते हैं। अनेक उपवासो के पश्चात् पारणा के दिन निर्दोष आहार का लाभ न हो तो मुनिराज चित्त मे तृणमात्र भी खेद नही करते। उन्हे तो लाभ-अलाभ समान हैं—यह अलाभ परीषह जय है।

(९) 'मशकादिदश परीषह्'—डाँस, मच्छर, खटमल, पिस्सु, चींटी, मकोड़ा तथा बिच्छु आदि को 'मशक' कहते हैं। 'दश' डक को कहते हैं। इन जीवों के काटने से शरीर मे असह्य वेदना उत्पन्न होती हैं। मुनिराज उस पीड़ा को खेद-खिन्न हुए बिना सहन करते है—यह मशकादि दंश परीषह जय है।

(१०) 'आक्रोश परीषह्'—दिगम्बर मुनिराज को देखकर कुछ लोग निन्दा करते हैं, मजाक—खिल्ली उड़ाते हैं, कठोर—दुर्वचन बोलते हैं अथवा गाली देते हैं, यहाँ तक कि डडे इत्यादि से मार भी देते हैं, तब भी उत्तमक्षमा के धारी मुनिराज क्षणमात्र के लिये भी क्रोध नही करते। उपसर्ग जानकर अपने स्वरूप मे लीन हो जाते हैं—यह आक्रोश परीषह् जय है।

(११) 'व्याधिदु ख परीषह्'—पूर्व संचित असातावेदनीय कर्म के उदय से यदि मुनिराज के शरीर मे किसी प्रकार की व्याधि (रोग) हो जाए, तो वह उससे उत्पन्न हुए दु ख को समतापूर्वक सहन करते है, आकुल-व्याकुल नही होते। पूर्व कृत कर्मों का फल जानकर अपने आत्मध्यान मे लीन रहते हैं—यह व्याधि परीषह् जय है।

(१२) 'अङ्गमल परीषह्'—मुनिराज को जीवन पर्यन्त स्नान का त्याग होता है। मिट्टी-धूल जम जाने के कारण उनका शरीर मलिन हो जाता है। कभी-कभी तो चर्मरोग भी हो जाता है, परन्तु मुनिराज का अपने शरीर की मलिन अवस्था के प्रति ध्यान नही जाता। वह शरीर के अशुचि स्वभाव को भली प्रकार जानते हैं। वे तो अपने निर्मल आत्म गुणो मे स्थित रहते हैं—यह अङ्गमल परीषह जय है।

(१३) 'तृणादिस्पर्श परीषह्'—चलते समय, बैठते समय या लेटते समय यदि मुनिराज के शरीर मे कोई पत्थर, ककड़ अथवा कांटा इत्यादि चुभ जाए तो वे उसे समता पूर्वक सहन कर लेते हैं तथा मन मे किसी प्रकार की व्याकुलता उत्पन्न होने नही देते—यह तृणादिस्पर्श परीषह् जय है।

(१४) 'अज्ञान परीषह'—मुनिराज सदा ही ध्यान-अध्ययन मे रत रहते हैं तथा कठोर तप सयम इत्यादि के पालन मे अपना समय व्यतीत करते हैं। यदि अनेक वर्षों तक भी उपर्युक्त क्रियाओ के फल-स्वरूप उन्हे अवधि ज्ञान आदि की प्राप्ति नही होती तो वे किञ्चित् भी खेद नही करते। उसे ज्ञानावरण कर्म का उदय मानते हुए अपने नित्यानन्द स्वरूप मे हो सन्तोष धारण करते है—यह अज्ञान परीषह जय है।

(१५) 'अदर्शन परोषह' –चिरकाल तक महाव्रतो का निरति-चार पालन करके तथा उग्रोग्र तप धारण करने पर भी यदि मुनिराज को कोई ऋद्धि अथवा ज्ञानातिशय प्राप्त नही होता है तो भी वे जिनेन्द्र भगवान् के मोक्षमार्ग मे अथवा तप-सयम आदि के माहात्म्य मे किसी प्रकार की शका या सशय उत्पन्न नही होने देते – इस प्रकार अपनी श्रद्धा को दृढ रखना ही अदर्शन परीषह जय है।

(१६) 'प्रज्ञा परीषह'—मुनिराज को यदि ग्यारह अग और चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त हो जाए अथवा अवधि ज्ञान या मन पर्यय ज्ञान की प्राप्ति हो जाए तो भी वे अपने ज्ञान का अतिशय अथवा ऋद्धि का रचमात्र भी गर्व नही करते—यह प्रज्ञा (ज्ञान) परीषह जय है।

(१७) 'सत्कारपुरस्कार परोषह' –दिगम्बर मुनिराज आदर-सत्कार-सम्मान आदि मे हर्षित अथवा गर्वित नही होते तथा अपमान-अनादर-तिरस्कार इत्यादि मे विषाद नही करते। दोनो अवस्थाओ मे समता भाव धारण करना सत्कार पुरस्कार परीषह जय है।

(१८) 'शय्या परोषह' मुनिगण ऊँची-नीची या पथरीली कठोर किन्तु जीव रहित भूमि पर रात्रि के अन्तिम पहर मे एक करवट से किञ्चित् थोडी देर के लिये निद्रा लेते है। उस समय अपने जीर्ण-शीर्ण शरीर मे ककड आदि चुभने से दु खी नही होते। उस बाधा को समता पूर्वक सहन करते हुए अपने आत्मस्वरूप/ध्यान अवस्था से विचलित नही होना शय्या परीषह जय है।

(१९) 'चर्य्या परीषह'—दिगम्बर मुनि हाथी-घोड़ा, रथ-पालकी अथवा रेल-मोटर-हवाई जहाज इत्यादि सवारी का प्रयोग नहीं करते हमेशा पैदल, नगे पाँव ईर्यापथ शुद्धिपूर्वक विहार करते हैं। ग्रीष्म ऋतु मे तप्तायमान मार्ग मे पैर जलने अथवा कंकड, पत्थर, कांटा इत्यादि चुभने से किञ्चित भी खेद-खिन्न नही होते। ऐसी बाधाओं को समतापूर्वक सहन करना चर्य्या परीषह जय है।

(२०) 'वध परीषह'—कोई पापी जीव यदि मुनिराज को रस्सी से बांध दे, डंडे-पत्थर इत्यादि से मारे अथवा अन्य भी उपद्रव/उपसर्ग करके महान कष्ट पहुँचाए तो भी वे रञ्चमात्र भी द्वेष नही करते अथवा दुःखी नही होते। वे तो अपने पूर्व उपार्जित पाप कर्मों का उदय समझ कर उन बाधाओ को समतापूर्वक सहन करते हैं तथा ऐसा विचार करते हैं कि मेरी आत्मा तो अविनाशी, अजर-अमर चिदानन्दमय है, उसे कोई किसी प्रकार की क्षति नही पहुँचा सकता — यह वध परीषह जय है।

(२१) 'निषद्या परीषह'—मुनिराज निर्जन एकान्त स्थान—श्मशान, बाग, शून्यघर अथवा पहाड की गुफा आदि मे निवास करते है। वहाँ रहते हुये वीरासन, पद्मासन, अथवा खडगासन मे स्थित होकर शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव करते है। ध्यान मे लीन रहते हैं। ऐसे ध्यान समय मे यदि सिंह इत्यादि जगली जानवर भीषण गर्जन करे अथवा व्यन्तर आदि का उपसर्ग उपस्थित हो तो भी मुनिराज का अपने ध्यान से किञ्चित् भी विचलित न होना निषद्या परीषह जय है।

(२२) 'स्त्री परीषह'—मुनिराज तो स्त्री का त्याग करके नव-कोटि से अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। यदि धर्मध्यान, तपश्चर्या अथवा स्वाध्याय करते समय कोई महासुन्दर स्त्री अपने हाव-भाव, मिष्ट वचन अथवा विलास एवं कौतुक भरी क्रियाओ से मुनिराज को फुसलाना चाहे तो वह तनिक भी चलायमान नही होते और अपने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये अपने चैतन्य ज्योतिस्वरूपी शुद्धात्म स्वभाव मे ही रमण करते हैं—यह स्त्री परीषह जय है।

इस प्रकार मुनिधर्म की मुख्यता से बाईस परीषहो का वर्णन किया गया है। श्रावक व्रतो का एकदेश पालन करता है, अत उसे भी यथाशक्ति यथायोग्य परीषह जय का अभ्यास करना चाहिये।

मोक्षाभिलाषी को निरन्तर हर समय रत्नत्रय का पालन करना चाहिए।

इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमय विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिश निरत्यया मुक्तिमभिलषिता॥
॥ ७-१३-२०६ ॥

अन्वयार्थ—(**इति**) इस प्रकार (**निरत्ययां**) अविनाशी (**मुक्तिम्**) मुक्ति को (**अभिलषिता**) चाहने वाले (**गृहस्थेन**) गृहस्थो को (**अपि**) भी (**प्रतिसमय**) हर समय (**एतत्**) पूर्वोक्त (**रत्नत्रयम्**) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय का (**विकलमपि**) एकदेश (**अनिश**) निरन्त (**परिपालनीयम्**) पालन करना चाहिये।

अर्थ—इस प्रकार अविनाशी मुक्ति को चाहने वाले गृहस्थ को भी हर समय पूर्वोक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय का एकदेश पालन करना चाहिये।

विशेषार्थ—अभी तक इस ग्रन्थ मे आचार्यश्री ने सकल (पूर्ण) तथा विकल (एकदेश) रत्नत्रय के स्वरूप का वर्णन किया है। मुनि महाराज को तो रत्नत्रय पूर्णरूप से होता है, परन्तु गृहस्थ/श्रावक को एकदेश होता है। यदि श्रावक पूर्णरूप से रत्नत्रय का पालन न कर सके अर्थात् मुनि के महाव्रतो को ग्रहण करने मे असमर्थ हो तो उसे एकदेश रत्नत्रय तो अवश्य पालना चाहिये। मोक्षाभिलाषी श्रावक/मुनि को रत्नत्रय की आराधना से किसी समय भी तथा किसी भी दशा मे विमुख नही होना चाहिये, क्योकि रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है। मुनि का रत्नत्रय महाव्रत के प्रताप से साक्षात् मोक्ष का कारण है तथा श्रावक का रत्नत्रय अणुव्रत के प्रताप से परम्परा से मोक्ष का कारण है।

वास्तव में मोक्षमार्ग तो एक ही है, परन्तु निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा वह दो प्रकार का है। निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है तथा व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है। परपदार्थों—सात तत्त्वार्थों इत्यादि का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है और अपने शुद्धात्मस्वरूप की श्रद्धा अर्थात् स्वानुभव होना निश्चय सम्यग्दर्शन है। शास्त्रो से सात तत्त्वार्थों आदि को जान लेना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है तथा अपने शुद्धात्मस्वरूप का ज्ञान निश्चय सम्यग्ज्ञान है। हिंसादि अशुभ कार्यों का त्याग तथा अहिंसादि शुभ कार्यों मे प्रवृत्ति करना व्यवहार सम्यक्चारित्र है तथा शुभाशुभ दोनो प्रकार की प्रवृत्तियो से निवृत्त होकर शुद्धोपयोग रूप निज शुद्धात्मस्वरूप मे लीन होना/स्थिर होना निश्चय सम्यक्चारित्र है। करणानुयोग शास्त्रो के अनुसार दर्शन मोहनीय की तीन (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यग्प्रकृति) तथा चारित्रमोहनीय की चार (अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ) —इन सात प्रकृतियो के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षयरूप अभाव होने पर ही निश्चय सम्यक्त्व संभव है, इससे पहले समस्त सम्यक्त्व व्यवहार रूप ही है।

गृहस्थो को शीघ्र मुनिव्रत धारण करना चाहिये—

बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम्॥
॥ ७-१४-२१० ॥

अन्वयार्थ—(नित्य) निरन्तर (बद्धोद्यमेन) उद्यमशील, मोक्षाभिलाषी—एकदेश रत्नत्रयधारी—ऐसे गृहस्थ को (बोधिलाभस्य) ज्ञान लाभ का (समयं) अवसर (लब्ध्वा) प्राप्त करके (च) और (मुनीनां) मुनियो के (पदम्) पद का (अवलम्ब्य) अवलम्बन लेकर (सपदि) शीघ्र ही (परिपूर्णम्) रत्नत्रय की परिपूर्णता (कर्त्तव्यं) करनी चाहिये।

अर्थ—निरन्तर उद्यमशील, मोक्षाभिलाषी, एकदेश रत्नत्रयधारी—ऐसे गृहस्थ को ज्ञान लाभ का अवसर प्राप्त करके और

मुनियों के पद का अवलम्बन लेकर शीघ्र ही रत्नत्रय की परिपूर्णता करनी चाहिये।

विशेषार्थ—मुक्ति/मोक्ष प्राप्ति करने के लिए मुनिपद का ग्रहण करना अतिआवश्यक है। मुमुक्षु जीव गृहस्थ दशा मे ही ससार, शरीर और पचेन्द्रिय भोगो से उदास होकर सदा ही मोक्षमार्ग मे उद्यमी रहते है। उन्हे चाहिये कि अपनी योग्यता और शक्ति का विचार करके शीघ्र ही यत्नपूर्वक समस्त परिग्रह का त्याग करके मुनिपद को धारण करे। मुनिपद मे शुद्धोपयोग रूप निर्विकल्प ध्यान मे आरूढ होकर रत्नत्रय की पूर्णता प्राप्त करके, वे शीघ्र ही मोक्ष पद को पा सकते है।

अपूर्ण रत्नत्रय अवस्था मे राग कर्मबन्ध का कारण है—

असमग्र भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो य।
स विपक्षकृतोऽवश्य मोक्षोपायो न बन्धनोपाय॥
॥ ७-१५-२११ ॥

अन्वयार्थ—(**असमग्र**) अपूर्ण—एकदेश (**रत्नत्रयम्**) रत्नत्रय की (**भावयत**) भावना करने वाले जीव के (**य**) जो (**कर्मबन्ध**) कर्म का बन्ध (**अस्ति**) होता है, (**स**) वह बन्ध (**विपक्षकृत**) विपक्ष अर्थात् राग कृत है, रत्नत्रय तो (**अवश्य**) अवश्य ही (**मोक्षोपाय**) मोक्ष का उपाय है (**बन्धनोपाय न**) बन्ध का उपाय नही है।

अर्थ—अपूर्ण एकदेश रत्नत्रय की भावना करने वाले जीव के जो कर्मबन्ध होता है, वह बन्ध विपक्ष अर्थात् राग कृत है, रत्नत्रय तो अवश्य ही मोक्ष का उपाय है, बन्ध का उपाय नही है।

विशेषार्थ रत्नत्रय की पूर्णता ही मोक्ष का कारण है। जब तक रत्नत्रय अपूर्ण है, तब तक प्रशस्त राग / शुभकषाय से जनित कर्म बन्ध हुआ ही करता है—ऐसा सिद्धान्त है। अपूर्ण रत्नत्रय अवस्था मे पचपरमेष्ठी की आराधना इत्यादि रूप शुभराग पाया जाता है। वह

राग ही कर्मबन्ध का कारण है। रत्नत्रय कदापि कर्मबन्ध का कारण नहीं, वह तो कर्मनिर्जरा का ही कारण है। कहा भी है—'क्योंकि दर्शन-ज्ञान-चारित्र जघन्य (अपूर्ण) भाव से परिणमन करते हैं, इसलिये ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि जीव) अनेक प्रकार के पुद्गलकर्म से बन्धता है।' (स० सा० १७२)

रत्नत्रय और राग का फल—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥
॥ ७-१६-२१२ ॥

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥
॥७-१७-२१३॥

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धन नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥
॥७-१८-२१४॥

अन्वयार्थ—(**अस्य**) इस जीव के (**येनांशेन**) जितने अश मे (**सुदृष्टि**) सम्यग्दर्शन है, (**तेन**) उतने अश मे (**बन्धन**) कर्म बन्ध (**नास्ति**) नही है (**तु**) परन्तु (**येन**) जितने (**अंशेन**) अश मे (**अस्य**) इसके (**रागः**) राग है (**तेन**) उतने (**अंशेन**) अश मे (**बन्धनं**) कर्म बन्ध (**भवति**) होता है। (**येन**) जितने (**अशेन**) अश मे (**अस्य**) इस जीव के (**ज्ञान**) ज्ञान है (**तेन**) उतने (**अंशेन**) अंश मे (**बन्धनं**) कर्म बन्ध (**नास्ति**) नही है (**तु**) परन्तु (**येन**) जितने (**अंशेन**) अश मे (**रागः**) राग है (**तेन**) उतने (**अंशेन**) अश मे (**अस्य**) इसके (**बन्धनं**) कर्म बन्ध (**भवति**) होता है। (**येन**) जितने अश मे (**अस्य**) इस जीव के (**चरित्रं**) चारित्र है (**तेन**) उतने (**अंशेन**) अश मे (**बन्धन**) कर्म बन्ध (**नास्ति**) नही है (**तु**) परन्तु (**येन**) जितने (**अशेन**) अश मे (**रागः**) राग है (**तेन**) उतने (**अंशेन**) अश मे (**अस्य**) इसके (**बन्धनं**) कर्मबन्ध (**भवति**) होता है।

अर्थ—इस जीव के जितने अश मे सम्यग्दर्शन है, उतने अश मे कर्मबन्ध नहीं है, परन्तु जितने अश मे इसके राग है, उतने अश मे कर्मबन्ध होता है। इस जीव के जितने अश मे ज्ञान है, उतने अंश मे कर्मबन्ध नही है, परन्तु जितने अश मे इसके राग है, उतने अंश मे कर्मबन्ध होता है। इस जीव के जितने अंश मे चारित्र है, उतने अश मे कर्मबन्ध नही है, परन्तु जितने अश मे राग है, उतने अश मे इसके कर्मबन्ध होता है।

विशेषार्थ—जीव के तीन भेद है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा। बहिरात्मा तो एकदम मिथ्यादृष्टि है, राग-द्वेष का पूर्ण सद्भाव है, अत उसके सर्वथा कर्म बन्ध होता है। अन्तरात्मा के जितने अश मे सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, उतने अश मे कर्मबन्ध नही, जितने अश मे राग-द्वेष भाव है उतने अश मे कर्म बन्ध है। परमात्मा—भगवान् के सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान (केवलज्ञान) की पूर्णता है तथा राग-द्वेष का सर्वथा अभाव होने से लेशमात्र भी कर्म बन्ध नही, मोक्ष ही है।

अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवे क्षीण कषाय गुणस्थान तक है। उसके जितने अश मे सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, उतने अंश मे कर्मबन्ध नही, जितने अश मे राग-द्वेष भाव (२५ कषाय) विद्यमान है, उतने अश मे कर्मबन्ध है। चतुर्थ गुणस्थान मे अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ तथा नपुंसक और स्त्रीवेद का अभाव होने से, उन सम्बन्धी कर्मबन्ध नही है, शेष उन्नीस प्रकृतियो का बन्ध होता है। पांचवें गुण-स्थान मे अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ का अभाव होने से उनका भी कर्मबन्ध समाप्त हो जाता है। शेष पन्द्रह प्रकृतियो का बन्ध होता है। छठे और सातवे गुणस्थान मे प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ तथा अरति और शोक का अभाव होने से उन जनित कर्मबन्ध भी समाप्त हो जाता है, शेष नौ प्रकृतियो का बन्ध होता है। नौवें गुणस्थान मे हास्य, रति, भय तथा जुगुप्सा का अभाव होने से तत्सम्बन्धी बन्ध समाप्त हो जाता है, शेष पांच प्रकृति जनित कर्मबन्ध होता है। दसवें गुणस्थान मे सज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ तथा पुरुष वेद का

अभाव हो जाता है, तब राग-द्वेष सम्बन्धी बन्ध का सर्वथा अभाव हो जाता है। ज्यों-ज्यों अन्तरात्मा के राग-द्वेष भावों का अभाव होता जाता है, त्यो-त्यो कर्मबन्ध का भी अभाव होता जाता है।

पुनः जितने अश मे सम्यक्चारित्र प्रकट हो जाता है, उतने अश मे कर्म का बन्ध नही होता और जितने अंश मे राग-द्वेष भाव हैं उतने ही अश मे कर्मबन्ध है। बहिरात्मा के मिथ्या चारित्र/अचारित्र होता है। राग-द्वेष का पूर्ण सद्भाव होने से समस्त कर्मों का बन्ध होता है। अन्तरात्मा के जितने अश मे राग-द्वेष का अभाव है उतने अश मे कर्मबन्ध का अभाव है, जितने अश मे राग-द्वेष है, उतने अश मे कर्मबन्ध है। परमात्मा के सम्यक् चारित्र की पूर्णता है, इसलिये किसी प्रकार का कर्मबन्ध नही होता।

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के उदय मे मिथ्यादर्शन होता है और चारित्रमोहनीय के उदय से अचारित्र अथवा मिथ्याचारित्र होता है। सम्यक्चारित्र के दो भेद हैं—एक स्वरूपाचरण और दूसरा सयमाचरण। सयमाचरण के भी दो भेद हैं—एकदेश चारित्र तथा सर्वदेशचारित्र। चौथे गुणस्थान मे जघन्य स्वरूपाचरण प्रकट हो जाता है। पाँचवें गुणस्थान में एकदेश चारित्र होता है। छठे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक मुनिराज के सर्वदेश चारित्र होता है। तेरहवे गुणस्थान मे पहुँचकर वही मुनिराज परमात्मा बन गए, उनके कषाय सम्बन्धी समस्त कर्म बन्ध का अभाव हो जाता है, केवल साता वेदनीय का एक समय मात्र का बन्ध होता है।

जितना-जितना कषायो का अभाव होता जाता है, उतना-उतना उस जीव के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का विकास होता जाता है। दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धी चौकडी का अभाव होने पर सम्यग्दर्शन और जघन्य स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट होता है। अप्रत्याख्यानावरणीय चौकडी के अभाव मे एकदेश चारित्र होता है। प्रत्याख्यानावरणीय चौकडी के अभाव मे सकल चारित्र प्रकट होता है। सज्वलन चौकडी तथा नौ नोकषायो के अभाव मे यथाख्यात चारित्र

की प्राप्ति होती है। इस प्रकार चारित्रमोहनीय की पच्चीस प्रकृतियाँ ही जीव मे राग-द्वेष उत्पन्न करने मे निमित्त हैं। उनमे अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान, अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान, प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान, संज्वलन क्रोध-मान तथा अरति, शोक, भय और जुगुप्सा—ये बारह प्रकृतियाँ तो द्वेष रूप है तथा शेष तेरह प्रकृतियाँ राग रूप हैं। इन कषायो के वशीभूत जीव अनादि काल से संसार रूपी सागर मे जन्म-जरा-मरण आदि के अनन्त दु खो को भोग रहा है। आठो कर्मों मे मोहनीय सर्वशक्तिमान है, इसलिये इसको सबसे पहले अपनी अनन्त आत्मशक्ति से जीत कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति करनी चाहिये। रत्नत्रय की एकता तथा पूर्णता ही मोक्ष का कारण है।

आत्मा के साथ कर्मबन्ध का कारण—

योगात्प्रदेशबन्ध स्थितिबन्धो भवति तु कषायात् ।
दर्शनबोधचरित्र न योगरूप कषायरूप च ॥
॥७-१६-२१५॥

अन्वयार्थ—(**योगात्**) मन, वचन, काय के व्यापार से (**प्रदेशबन्ध.**) प्रदेशबन्ध और (**कषायात्**) क्रोधादि कषायो से (**स्थितिबन्ध**) स्थिति बन्ध (**भवति**) होता है, परन्तु (**दर्शनबोधचरित्रं**) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय (**न**) न (**तु**) तो (**योगरूपं**) योगरूप है (**च**) और न ही (**कषायरूप**) कषाय रूप है।

अर्थ—मन, वचन, काय के व्यापार से प्रदेशबन्ध और क्रोधादि कषायो से स्थिति बन्ध होता है, परन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र न तो योग रूप है और न ही कषाय रूप है।

विशेषार्थ—इस श्लोक मे कर्मबन्ध के भेद तथा कारणो का उल्लेख है। मन, वचन, काय की हलन-चलन रूप क्रिया को योग कहते हैं। उस योग से प्रकृति तथा प्रदेशबन्ध होता है तथा क्रोधादि कषायो से स्थिति और अनुभागबन्ध होता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

और सम्यक्चारित्र न तो योग रूप है और न ही कषाय रूप हैं, अत. ये कर्मबन्ध के कारण नही हैं। आगे इसी विषय को और स्पष्ट करते हैं—

कर्मबन्ध के चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्ध। कर्मबन्ध के उक्त चार भेदों को समझने के लिये हमे सर्वप्रथम ही पुद्गल कर्मों के भेदो तथा उनके स्वभाव को अच्छी तरह जानना होगा। पुद्गल कर्मों की आठ मूल प्रकृतियां तथा उत्तरप्रकृतियां एक सौ अडतालीस है। उनका स्वरूप इस प्रकार है—

(१) 'ज्ञानावरणीय' कर्म का स्वभाव परदे के समान है। जैसे परदे से ढकी हुई वस्तु का ज्ञान नही होता, उसी प्रकार जब तक आत्मा पर ज्ञानावरणीय कर्म का परदा पडा है तब तक वह आत्मा को पदार्थों के स्वरूप का सम्यग्ज्ञान नही होने देता।

(२) 'दर्शनावरणीय' कर्म का स्वभाव दरबान के समान है। जैसे दरबान राजा का दर्शन नहीं होने देता, वैसे ही दर्शनावरणीय कर्म आत्मा को पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ दर्शन नही होने देता।

(३) 'वेदनीय' कर्म का स्वभाव शहद लपेटी तलवार के समान है। वह तलवार चखने पर पहले तो मीठी लगती है परन्तु जीभ काट देती है। वैसे ही वेदनीय कर्म पहले तो सुखदायक लगता है परन्तु थोडे समय पश्चात् दु खदायक बन जाता है। सुख-दुःख के कारणो का संयोग जुडाकर सुख-दु खादि के अनुभव मे निमित्त होना ही वेदनीय कर्म का स्वभाव है।

(४) 'मोहनीय' कर्म का स्वभाव तेज मदिरा के समान है। जैसे मदिरा पीने से मनुष्य मतवाला हो जाता है और उसे अपने स्वरूप का भान नही रहता, वैसे ही मोहनीय कर्म आत्मा को अपने स्वरूप का भान नही होने देता। मोहनीय कर्म के उदय मे जीव पर-पदार्थों मे अपनत्व/स्वामित्व तथा उनका कर्त्ता-भोक्ता अपने को मानता हुआ सुख-दुखादि का अनुभव करता है।

(५) 'आयु' कर्म का स्वभाव शिकजे के समान है। जब तक कोई प्राणी शिकंजे मे पकडा हुआ है तब तक वह कही नही जा

सकता। उसी प्रकार जब तक जीव का आयुकर्म शेष है तब तक उसे उसी शरीर मे रहना पडेगा।

(६) 'नाम' कर्म का स्वभाव चित्रकार के समान है। जैसे चित्रकार मनुष्य, घोडा इत्यादि के नाना प्रकार के चित्र बनाता है, उसी प्रकार नामकर्म भी जीव को कभी मनुष्य, कभी तिर्यंच, कभी देव और कभी नारकी बनाता है। कभी एकेन्द्रिय आदि जातियो मे जन्म कराता है तथा कभी गूंगा-बहरा, लगडा, मोटा-पतला, काला-गोरा इत्यादि बनाता है।

(७) 'गोत्र' कर्म का स्वभाव कुभकार के समान है। जैसे कुभकार छोटे-बडे बरतन बनाता है, वैसे ही गोत्र कर्म जीव को कभी उच्चकुल मे तथा कभी नीचकुल मे उत्पन्न करता है।

(८) 'अन्तराय' कर्म का स्वभाव भण्डारी जैसा है। जैसे सेठ ता दान इत्यादि देना चाहता है परन्तु भण्डारी उसमे विघ्न डालता है, दान नही करने देता, वैसे ही अन्तराय कर्म आत्मा को प्राप्त होने वाले अनेक प्रकार के दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य मे विघ्न डालता है। इस प्रकार आठ कर्मों के स्वभाव का वर्णन करके अब कर्मबन्ध के चार भेदो को स्पष्ट करते हैं—

(१) 'प्रकृतिबन्ध'—प्रकृति का अर्थ है स्वभाव। उपर्युक्त आठ कर्मों का अपने-अपने स्वभाव सहित आत्मा के साथ सम्बन्ध को/एकक्षेत्रावगाहन को प्राप्त होना प्रकृति बन्ध है।

(२) 'प्रदेशबन्ध'—आत्मा के असख्यात प्रदेश हैं। एक-एक प्रदेश के साथ उपर्युक्त आठ कर्मों के अनन्तानन्त परमाणु बंधते हैं। एकक्षेत्रावगाह होकर रहते हैं—यह प्रदेशबन्ध है।

(३) 'स्थिति बन्ध'—उपर्युक्त आठ कर्मों का जीव के साथ बंधे रहने/एकक्षेत्रावगाह रहने के काल/मर्यादा को स्थितिबन्ध कहते है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडा-कोडी सागर है। दर्शनमोहनीय की सत्तर कोडा-

कोडी सागर, चारित्रमोहनीय की चालीस कोडा-कोडी सागर, आयु-कर्म की तैतीस सागर, नाम और गोत्र कर्म की बीस कोड़ा-कोडी सागर उत्कृष्ट स्थिति है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय अन्तराय तथा आयुकर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त, वेदनीय की बारह मुहूर्त तथा गोत्रकर्म की आठ मुहूर्त है। उत्कृष्ट और जघन्य के बीच मे स्थितिबन्ध के अनन्त भेद हैं।

(४) 'अनुभाग बध'—कर्मों की सुख-दुख देने की शक्ति को 'अनुभाग' कहते हैं। चार घातिया (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) कर्मों का अनुभाग तो अशुभ रूप ही होता है तथा अघातिया (वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र) कर्मों का अनुभाग शुभरूप तथा अशुभरूप दोनो प्रकार का होता है। घातिया कर्मों का तो लता, लकडी, हड्डी और पत्थर रूप क्रम से बढता-बढता बध होता है। अघातिया कर्मों का शुभरूप अनुभाग तो गुड, खाण्ड, शक्कर तथा अमृत समान क्रमश बढते हुए मिठास रूप शुभ फल देता है और यदि अशुभ रूप हो तो नीम, कांजी, विष और हलाहल के समान क्रमशः बढती हुई कडवाहट की तरह अशुभ फल देता है।

रत्नत्रय कर्मबन्ध का कारण नही है—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्र कुत एतेभ्यो भवति बन्ध.॥
॥ ७-२०-२१६ ॥

अन्वयार्थ—(**आत्मविनिश्चितिः**) अपने आत्मा का निर्णयात्मक यथार्थ दृढ निश्चय (**दर्शनम्**) सम्यग्दर्शन है (**आत्मपरिज्ञानम्**) आत्मा का निर्णयात्मक यथार्थ पूर्ण ज्ञान (**बोधः**) सम्यग्ज्ञान है और (**आत्मनि**) आत्मस्वरूप मे (**स्थितिः**) लीनता (**चारित्रं**) सम्यक्-चारित्र (**इष्यते**) कहा जाता है तो फिर (**एतेभ्यः**) इन तीनो से (**कुतः**) किस प्रकार (**बन्धः**) कर्मबन्ध (**भवति**) होता है ?

अर्थ—अपने आत्मा का निर्णयात्मक यथार्थ दृढ निश्चय सम्यग्-दर्शन है, आत्मा का निर्णयात्मक यथार्थ पूर्ण ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और

आत्मस्वरूप मे लीनता सम्यक्चारित्र कहा जाता है तो फिर इन तीनों से किस प्रकार कर्मबन्ध होता है ? अर्थात् कर्मबन्ध नहीं होता।

विशेषार्थ—अपने चेतन आत्मा के स्वरूप का यथार्थ निर्णयात्मक दृढ श्रद्धान करना 'सम्यग्दर्शन' है। आत्मा के स्वरूप का यथार्थ निर्णयात्मक पूर्ण ज्ञान करना 'सम्यग्ज्ञान' है तथा शुद्धात्म स्वरूप मे लीनता/स्थिरता होना 'सम्यक्चारित्र' है। ये तीनो गुण आत्मा के निजस्वरूप हैं। निज स्वरूप कभी भी बन्ध का कारण नही हो सकता। अत· रत्नत्रय आत्मस्वरूप ही होने से कदापि भी कर्मबन्ध का कारण नही हो सकता।

रत्नत्रय के दो भेद है—व्यवहार रत्नत्रय तथा निश्चय रत्नत्रय। अपने से भिन्न पर-पदार्थों—देव, शास्त्र, गुरु का अथवा सात तत्त्वार्थों आदि का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है, उन्ही पर-पदार्थों के स्वरूप को जान लेना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है तथा हिंसादि अशुभ क्रियाओ से प्रवृत्ति हटाकर अहिंसादि शुभ क्रियाओ मे परिणमन करना व्यवहार सम्यक्चारित्रहै । यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

आत्मा अपने जिस शुद्धस्वरूप का यथार्थ दर्शन/श्रद्धान करता है, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। जिस शुद्धस्वरूप का श्रद्धान किया था उसी के शुद्धस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करना निश्चय सम्यग्ज्ञान है तथा उसी शुद्ध स्वरूप आत्मा मे परिणमन/आचरण/विश्राम/स्थिति करना निश्चय सम्यक्चारित्र है। यही निश्चय मोक्षमार्ग है, कर्मों से छुडाने का कारण है। यह तिल तुषमात्र भी कर्मबन्ध का कारण नही है।

रत्नत्रय तीर्थंकरादि प्रकृतियो के भी बन्ध का कारण नही है—

सम्यक्त्वचरित्राभ्या तीर्थंकराहारकर्म्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्ट समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥
॥ ७-२१-२१७ ॥

अन्वयार्थ—(**तीर्थंकराहारकर्मबंध:**) तीर्थंकर प्रकृति और आहारक प्रकृति का (**अपि**) भी (**य.**) जो (**बन्ध:**) बंध (**सम्यक्त्वचारित्राभ्यां**) सम्यक्त्व और चारित्र से (**समये**) आगम मे (**उपदिष्ट:**) कहा गया है (**स:**) वह (**अपि**) भी (**नयविदां**) नयविभाग के जानने वालों को (**दोषाय**) दोष का कारण (**न**) नही है।

अर्थ—तीर्थंकर प्रकृति और आहारक प्रकृति का जो बन्ध सम्यक्त्व और चारित्र से आगम मे कहा गया है, वह भी नयविभाग के जानने वालो को दोष का कारण नही है।

विशेषार्थ—आगम मे ऐसा कथन आता है कि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से तीर्थंकर प्रकृति तथा आहारक प्रकृति का बध होता है। ऐसा कथन किसी प्रकार का विरोध उत्पन्न नही करता। नय-विभाग के जानने वाले इसमे कोई दोष नही मानते। उसी का स्पष्टी-करण—तीर्थंकर प्रकृति तथा आहारक प्रकृति का बध सम्यक्त्व अवस्था मे ही होता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव को ही होता है, मिथ्यादृष्टि जीव को नही होता। सम्यक्त्व के दो भेद हैं—एक सराग सम्यक्त्व तथा दूसरा वीतराग सम्यक्त्व। सराग सम्यक्त्व कुछ राग-भाव से मिश्रित होता है तथा वीतराग सम्यक्त्व रागभाव रहित होता है। सम्यक्त्व अवस्था मे सरागभाव के सद्भाव मे तीर्थंकर प्रकृति तथा आहारक प्रकृति का बध होता है, वीतराग सम्यक्त्व मे नही होता। आगे श्लोक मे इसका और भी खुलासा है।

पूर्वकथन का स्पष्टीकरण —

सति सम्यक्त्वचारित्रे तीर्थंकराहारबन्धकौ भवत.।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥

॥ ७-२२-२१८ ॥

अन्वयार्थ—(**सम्यक्त्वचारित्रे सति**) सम्यक्त्व और चारित्र होने पर (**तीर्थंकराहारबन्धकौ**) तीर्थंकर और आहारक प्रकृति बध करने

वाले (**योगकषायौ**) योग और कषाय होते हैं (**पुनः**) और (**असति न**) नही होने पर नही होते, अर्थात् सम्यक्त्व और चारित्र बिना योग और कषाय तीर्थंकर और आहारक प्रकृति के बंध के कर्त्ता नही होते (**तत्**) वह सम्यक्त्व और चारित्र (**अस्मिन्**) इस बंध मे (**उदासीनम्**) उदासीन हैं।

अर्थ—सम्यक्त्व और चारित्र होने पर तीर्थंकर और आहारक प्रकृति बध करने वाले योग और कषाय होते हैं और नही होने पर नही होते, अर्थात् सम्यक्त्व और चारित्र बिना योग और कषाय तीर्थंकर और आहारक प्रकृति के बध के कर्त्ता नही होते, सम्यक्त्व और चारित्र इस बध मे उदासीन हैं।

विशेषार्थ—सराग सम्यक्त्व तथा चारित्र अवस्था मे योग और कषाय के सद्भाव मे ही तीर्थंकर और आहारक प्रकृति का बध होता है। तीर्थंकर और आहारक प्रकृति का बंध सम्यक्त्व और चारित्र अवस्था मे ही होता है अन्यथा नही होता, परन्तु वह सम्यक्त्व और चारित्र बध का कारण नही है वह तो उदासीन ही है। तीर्थंकर प्रकृति का बध तो योग, अप्रत्याख्यानावरणीय, प्रत्याख्यानावरणीय सज्वलन तथा नौ नोकषायो के सद्भाव मे भी होता है और आहारक प्रकृति का बध योग तथा सज्वलन कषाय के सद्भाव मे ही होता है। अत रत्नत्रय इन प्रकृतियो के बध का कारण नही है। सम्यक्त्व अवस्था मे योग और कषाय ही इनके बध के कारण हैं।

शका—सम्यक्त्व देवायु के बध का कारण कसे ठहरेगा?—

ननु कथमेव सिद्ध्यति देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिबन्ध ।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ॥
॥७-२३-२१६॥

अन्वयार्थ—(**ननु**) कोई शकाकार शका करता है कि (**रत्नत्रयधारिणां**) रत्नत्रय के धारक (**मुनिवराणाम्**) श्रेष्ठ मुनियो को (**सकलजनसुप्रसिद्धः**) सर्वलोक मे भली प्रकार प्रसिद्ध (**देवायुप्रभृति-**

सत्प्रकृतिबन्धः) देवायु आदि उत्तम प्रकृतियो का बध **(एव)** पूर्वोक्त प्रकार से **(कथम्)** किस तरह **(सिद्ध्यति)** सिद्ध होगा।

अर्थ—कोई शकाकार शका करता है कि रत्नत्रय के धारक श्रेष्ठ मुनियों को सर्वलोक मे भली प्रकार प्रसिद्ध देवायु आदि उत्तम प्रकृतियो का बध पूर्वोक्त प्रकार से किस तरह सिद्ध होगा ?

विशेषार्थ—यहाँ कोई शका करता है कि रत्नत्रय तो कर्मबन्ध का कारण नहीं है ऐसा आप सिद्ध कर चुके हैं। परन्तु शास्त्रो मे ऐसा कथन आता है कि रत्नत्रयधारी श्रेष्ठ मुनियो को देवायु आदि पुण्य प्रकृतियो का बध होता है। शास्त्रो का यह कथन कैसे सगत सिद्ध होगा ? इसका समाधान आचार्यश्री अगले श्लोक मे करते हैं।

शका-समाधान—

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥
॥७-२४-२२०॥

अन्वयार्थ—**(इह)** इस लोक मे **(रत्नत्रयम्)** रत्नत्रय **(निर्वाणस्य एव)** निर्वाण का ही **(हेतुः)** कारण **(भवति)** होता है **(अन्यस्य)** अन्य गति का **(न)** नही और रत्नत्रय मे **(यत्)** जो **(पुण्यं आस्रवति)** पुण्य का आस्रव होता है **(अयम्)** यह **(तु)** तो **(शुभोपयोगः)** शुभोपयोग का **(अपराध)** अपराध है।

अर्थ—इस लोक मे रत्नत्रय निर्वाण का ही कारण होता है, अन्यगति का नही और रत्नत्रय मे जो पुण्य का आस्रव होता है, यह तो शुभोपयोग का अपराध है।

विशेषार्थ—यह पूर्व श्लोक मे उठाई गई शका का समाधान है। आचार्यश्री कहते हैं—रत्नत्रय तो वास्तव मे निर्वाण का ही कारण है, परन्तु रत्नत्रय के सद्भाव मे भी जो शुभोपयोग और शुभकषाय विद्यमान रहते हैं उनके कारण देवायु आदि पुण्य प्रकृतियो का बध

होता है। यह शुभोपयोग का अपराध (फल) है, रत्नत्रय का दोष किञ्चित् भी नही है।

सम्यक्त्व से शुभप्रकृतिबन्ध—यह व्यवहार कथन है—

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढमितः॥
॥७-२५-२२१॥

अन्वयार्थ—(**हि**) निश्चय ही (**एकस्मिन्**) एक ही वस्तु मे (**अत्यन्तविरुद्धकार्ययो**) अत्यन्त विरोधी दो कार्यों के (**अपि**) भी (**समवायात्**) मेल से (**तादृश अपि**) वैसा ही (**व्यवहारः**) व्यवहार (**रूढिम्**) रूढि को (**इत**) प्राप्त होता है (**यथा**) जैसे (**इह**) इस लोक मे (**घृतम् दहति**) घी जलाता है—(**इति**) इस प्रकार की कहावत है।

अर्थ—निश्चय ही एक ही वस्तु मे अत्यन्त विरोधी दो कार्यों के भी मेल से वैसा ही व्यवहार रूढि को प्राप्त होता है, जैसे—इस लोक मे 'घी जलाता है'—इस प्रकार की कहावत है।

विशेषार्थ—जब दो अत्यन्त विरुद्ध वस्तुओ के कार्यों का एक साथ मेल होता है तब व्यवहार या उपचार मे एक वस्तु का कार्य दूसरी वस्तु के कार्य पर आरोपित कर दिया जाता है। अग्नि और घी सर्वथा दो भिन्न पदार्थ है। घी का काम तो शरीर को पुष्ट करना है, जलाना नही। जलाना तो अग्नि का काम है। परन्तु अग्नि के सयोग से तपते हुए घी से जब कोई पुरुष जल जाता है तब ऐसा कहा जाता है कि 'घी ने शरीर को जला दिया'। वास्तव मे जलाने का काय तो अग्नि ने किया है, घी ने नही किया, परन्तु इन दोनो का सयोग होने से व्यवहार से लोक मे ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व और राग दोनो भिन्न-भिन्न है। सम्यक्त्व का कार्य कर्मों से छुडाने का है, कर्मों का बध कराने का नही है। राग का कार्य कर्मों का बध कराने का है। परन्तु इन दोनो के मेल से व्यवहार

रूढि से लोक में यह कहा जाता है कि 'रत्नत्रय से इन्द्रादिक शुभ प्रकृतियों का बंध होता है'। वस्तु स्थिति पर विचार करने से ज्ञात होता है कि जब एक ही पुरुष में सम्यक्त्व रूप ज्ञानधारा और रागादि रूप अज्ञानधारा दोनो एक ही समय मे चलती हैं तो बंध का कारण तो रागादि रूप अज्ञानधारा ही है, सम्यक्त्व रूप ज्ञानधारा कर्मबन्ध का कारण नही, उससे तो मोक्ष का ही लाभ होता है। अत. 'सम्यक्त्व से शुभप्रकृतिबन्ध होता है'—यह व्यवहार / उपचार कथन है।

निश्चय और व्यवहार रूप रत्नत्रय मोक्ष मे पहुँचाता है—

सम्यक्त्वबोधचरित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येष. ।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम् ॥
॥७-२६-२२२॥

अन्वयार्थ—(**इति**) इस प्रकार (**एषः**) यह पूर्वकथित (**मुख्योपचाररूप.**) निश्चय और व्यवहार रूप (**सम्यक्त्वबोधचरित्रलक्षणः**) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र लक्षण वाला (**मोक्षमार्ग·**) मोक्ष का मार्ग (**पुरुषम्**) आत्मा को (**परं पदं**) परमात्मा का पद (**प्रापयति**) प्राप्त करवाता है।

अर्थ—इस प्रकार यह पूर्वकथित निश्चय और व्यवहार रूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र लक्षण वाला मोक्षमार्ग आत्मा को परमात्मा पद प्राप्त करवाता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन तीनो को एकतारूप मोक्षमार्ग है। वास्तव मे मोक्षमार्ग तो एक ही है, परन्तु निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो प्रकार का कहा जाता है। निश्चय रत्नत्रय तो मुख्य है, साध्य है तथा साक्षात् मोक्षमार्ग का साधक है। व्यवहार रत्नत्रय उपचार रूप है, साधन है तथा परम्परा से मोक्ष का साधक है। व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का

कारण है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार रूप रत्नत्रय जीव को मोक्ष मे पहुँचाते हैं।

अत्यन्त निर्मल सिद्धपरमेष्ठी मोक्ष मे प्रकाशमान होते है—

नित्यमपि निरुपलेप स्वरूपसमवस्थितो निरुपघात ।
गगनमिव परमपुरुष परमपदे स्फुरति विशदतम ।।
।।७-२७-२२३।।

अन्वयार्थ—(**नित्यमपि**) हमेशा ही (**निरुपलेपः**) कर्मरूपी रज के लेप से रहित (**स्वरूपसमवस्थित**) अपने अनन्त ज्ञान-दर्शन स्वरूप में भले प्रकार स्थित (**निरुपघात**) घात रहित (**विशदतमः**) अत्यन्त निर्मल (**परमपुरुष**) परमात्मा—सिद्ध परमेष्ठी (**परमपदे**) सर्वोत्तम मोक्ष पद मे (**गगनमिव**) आकाश की भाँति (**स्फुरति**) प्रकाशमान होते है।

अर्थ—हमेशा ही कर्मरूपी रज के लेप से रहित अपने अनन्त ज्ञान-दर्शन स्वरूप मे भली प्रकार स्थित, घात रहित अत्यन्त निर्मल परमात्मा—सिद्धपरमेष्ठी सर्वोत्तम मोक्ष पद मे आकाश की भाँति प्रकाशमान होते है।

विशेषार्थ—शुद्ध रत्नत्रय की आराधना करके जीव सर्वोत्तम मोक्षपद—सिद्धपरमेष्ठी पद को प्राप्त करता है तथा सदा ही कर्म लेप से रहित लोकाकाश के अन्त मे शुद्ध आकाश की तरह प्रकाशमान रहता है। ससारी जीव तो मनुष्य-देवादि चारो गतियो मे अपनी आयु प्रमाण थोड़ काल तक रहते है, कर्ममल से मलिन हो रहे हैं, पुण्य-पाप रूप से लिप्त है और देह सहित होने से दूसरो जीवो का घात करते है तथा स्वय भी घाते जाते है। परन्तु सिद्धपरमेष्ठी मोक्ष-पद मे अनन्त काल तक विराजमान रहते हैं, कर्ममल से रहित होने से निर्मल है, शुद्ध आकाश के समान निर्लेप हैं और देहरहित होने से न तो किसी का घात करते हैं तथा न ही किसी के द्वारा घाते जाते

हैं। ऐसे सिद्ध भगवान् अखण्ड, अविनाशी, निर्मल निजस्वरूप मे लीन सदा ही मोक्ष मे विराजमान रहते हैं। भव्य जीवो को उन सिद्धों की आराधना करके मोक्षपद को पाना चाहिए।

परमात्मा का स्वरूप—

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव॥
॥ ७-२२-२२४ ॥

अन्वयार्थ—(**कृतकृत्य**) कृतकृत्य (**सकलविषयविषयात्मा**) समस्त पदार्थ जिनके विषय है अर्थात् सर्व पदार्थों को जानने वाले (**परमानन्दनिमग्न**) परमानन्द—ज्ञानानन्द मे पूर्ण मग्न (**ज्ञानमयः**) ज्ञानमय ज्योति स्वरूप (**परमात्मा**) मुक्तात्मा—सिद्धपरमेष्ठी (**परमपदे**) सर्वोच्च मोक्षपद मे (**सदैव**) सदा ही (**नन्दति**) आनन्द रूप से विराजमान हैं।

अर्थ—कृतकृत्य, समस्त पदार्थ जिनके विषय हैं अर्थात् सर्वपदार्थों को जानने वाले, परमानन्द—ज्ञानानन्द मे पूर्ण मग्न, ज्ञान ज्योति स्वरूप मुक्तात्मा—सिद्धपरमेष्ठी सर्वोच्च मोक्षपद मे सदा ही आनन्द रूप से विराजमान हैं।

विशेषार्थ—इस श्लोक मे सिद्धपरमेष्ठी/परमात्मा का स्वरूप दर्शाया गया है। परमात्मा ने पुरुषार्थ की सिद्धि कर ली है अर्थात् अविनाशी मोक्षपद को पा लिया है, उन्हे अब कोई कार्य करना शेष नही इसलिये 'कृतकृत्य' हैं। केवलज्ञानमय सिद्धपरमेष्ठी तीन लोक के समस्त पदार्थों को अपने ज्ञान मे विषय करते है अथवा समस्त पदार्थों से विरक्त होकर निजशुद्धात्म स्वरूप मे लीन रहते हैं तथा समस्त विषय विकार से रहित, परमानन्द मे निमग्न सर्वोच्च मोक्षपद मे सदा ही विराजमान रहते है।

जैन नय-विवक्षा—

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनीनीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥

॥ ७-२६-२२५ ॥

अन्वयार्थ—(**मन्थाननेत्रम्**) दही की मथानी की रस्सी को खीचने वाली (**गोपी इव**) ग्वालिन की तरह जो (**वस्तुतत्त्वम्**) वस्तु के स्वरूप को (**एकेन अन्तेन**) एक अन्त से—रस्सी के सिरे से अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से (**आकर्षन्ती**) आकषण करती है—खीचती है और फिर (**इतरेण**) दूसरे अन्त—रस्मी के सिरे से अर्थात् पर्यायार्थिकनय से (**श्लथयन्ती**) शिथिल—ढीला करती है, वह (**जैनी नीति**) जिनेन्द्र भगवान् की नीति—नय-विवक्षा (**जयति**) जयवन्त है ।

अर्थ—दही की मथानो को रस्सी को खीचने वाली ग्वालिन की तरह जो वस्तु के स्वरूप को एक अन्त से—रस्सी के सिरे से अर्थात् द्रव्यार्थिकनय से आकर्षण करती है—खीचती है और फिर दूसरे अन्त से—रस्सी के सिरे से अर्थात् पर्यायार्थिकनय से शिथिल—ढीला करती है, वह जिनेन्द्र भगवान् की नीति—नय-विवक्षा जयवन्त है ।

विशेषार्थ—जिनेन्द्र भगवान् की वाणी स्याद्वादरूप अनेकान्तमयी है। स्याद्वाद के द्वारा वस्तु के अनेक धर्मों का कथन होता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—इन दोनो नयो से वस्तु के यथार्थस्वरूप की सिद्धि होती है। द्रव्यार्थिकनय द्रव्य का अर्थात् सामान्य का ग्रहण करता है, पर्यायार्थिकनय विशेष अर्थात् एक समय मे एक पर्याय का या गुण का ग्रहण करता है। दोनो नय एक-दूसरे के पूरक तथा सापेक्ष है। विवक्षा के समय गोण और मुख्य रहते है, एक दूसरे का निषेध नही करते। इसी तथ्य को आचार्यश्री ने बहुत ही सुन्दर उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया है—जैसे कोई ग्वालिन दही मे से मक्खन निकालने रूप कार्य की सिद्धि के लिए दही को बिलोती है। बिलोते समय वह

एक हाथ की रस्सी को ढीला करती है तथा दूसरे हाथ से रस्सी को खींचती है, पुन दूसरे हाथ की रस्सी को ढीला करके पहले हाथ की रस्सी को खींचती है। ऐसा करते हुये वह किसी भी हाथ की रस्सी को सर्वथा नही छोडती। इसी प्रकार जब द्रव्यार्थिकनय से किसी वस्तु का ग्रहण किया जाता है तो उसको मुख्य रखकर पर्यायार्थिकनय को गौण अथवा उदासीन रखा जाता है तथा जिस समय पर्यायार्थिक नय से वस्तु का ग्रहण करते है तो उसको मुख्य रखकर द्रव्यार्थिकनय को गौण अथवा उदासीन रखा जाता है। दोनो नयों मे से किसी को भी छोडा नही जाता अथवा एक नय दूसरे नय का निषेध नही करता। दोनो नयो द्वारा ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप की सिद्धि होती है। जैसे जीव द्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा नित्य है तथा पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा अनित्य है। यही नय-विवक्षा है, इसी के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप की सिद्धि होती है। एकातनय मिथ्या है, इससे वस्तु के स्वरूप की सिद्धि नही होती। आचार्यश्री नय-विवक्षा के जयवन्त होने की मगल कामना करते है।

ग्रन्थकर्ता आचार्यश्री अपनी लघुता बताते है—

वर्णं कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यै कृत पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥
॥ ७-३०-२२६ ॥

अन्वयार्थ— (**चित्रै.**) नाना प्रकार के (**वर्णै**) अक्षरो से (**तु**) तो (**पदानि**) पद (**कृतानि**) रचे गये है (**पदैः**) पदो से (**वाक्यानि**) वाक्य (**कृतानि**) बनाये गए हैं और (**पुनः**) फिर (**वाक्यैः**) उन वाक्यो से (**इद**) यह (**पवित्र**) पवित्र—पूज्य (**शास्त्र**) शास्त्र (**कृत**) बनाया गया है (**अस्माभि·**) हमारे द्वारा (**न**) नही।

अर्थ—नाना प्रकार के अक्षरो से तो पद रच गये हैं, पदो से वाक्य

बनाये गये है और फिर उन वाक्यो से यह पवित्र—पूज्य शास्त्र बनाया गया है, हमारे द्वारा नही।

विशेषार्थ—इस ग्रन्थ के रचयिता महान आचार्यश्री अमृतचन्द्र अपनी लघुता प्रकट करते हुए कहते हैं कि 'मैंने इस ग्रन्थ की रचना नही की है। बावन अक्षर अनादि निधन है, इन्ही के जोड से पद बने तथा पदो से वाक्य बने और वाक्यो से यह पवित्र—पूज्य ग्रन्थ बना है। यह स्वाभाविक रचना है, इसमे हमारी कृति कुछ भी नही है।'

।। अन्तिम सातवाँ सकल चारित्र अधिकार समाप्त हुआ ।।